

ज्ञान प्रभा का यह अंक भारतीय संस्कृति को समर्पित है। इसके कई लेखों में संस्कृति क्या है इसका उल्लेख मिलेगा। इस सम्पादकीय का प्रारम्भ भी हम संस्कृति की एक सर्व सुलभ परिभाषा से ही कर रहे हैं। कहा जाता है कि कृति, सुकृति एवं संस्कृति अर्थात् हम कार्य करते हैं, अच्छे कार्य करते हैं एवं यही अच्छे कर्म जब समुदाय करने लगता है तो वह संस्कृति कहलाने लगती है। किन्तु यह परिभाषा कुछ अधिक सरल लगती है। शाब्दिक रूप से भी संस्कृति एक अर्थ 'परिष्कृत कार्य' या 'उत्तम कार्य' है। सामान्य व्यवहार में इसका अर्थ सुरुचि पूर्ण एवं शिष्ट व्यवहार से लिया जाता है। किन्तु समय बीतने के साथ इसका अर्थ अत्यंत व्यापक हो गया है।

यूनेस्को के अनुसार संस्कृति को कला का रूप माना जाता है। हम भौतिक मूल्यों एवं मानवीय संबंधों में लोगों के व्यवहार को संस्कृति से जोड़ते हैं। इसमें मूर्त एवं अमूर्त दोनों पक्षों का समवेश रहता है। सामाजिक नृविज्ञान में संस्कृति के दो भेद लौकिक एवं अलौकिक किये गये हैं। लौकिक संस्कृति में वास्तु कला, भौतिक वस्तुएं, कृषि, व्यापार इत्यादि सम्मिलित हैं। अलौकिक संस्कृति से साहित्यिक परम्पराओं, विश्वासों, मिथकों इत्यादि का बोध होता है।

भारतीय संस्कृति की विशेषता यह है कि वह बहुभाषी है, बहुधर्मी है एवं बहुरंगी है। इस बहुभाषी भारतीय समाज की संरचना उसकी मूल प्रकृति, सांस्कृतिक एवं उसमें प्रेरित अंतर्विरोधों को ज्यादा गहराई में जाकर समझने और इसे व्यापक धरातल पर व्याख्यायित करने वाले सैकड़ों ग्रंथ-वेद, पुराण, उपनिषद्, महाकाव्य, शिलालेख एवं ऐतिहासिक प्रमाण वैदिक काल से ही यहां प्रचुर मात्रा में उपलब्ध रहे हैं। भारतीय चिन्तन परम्परा से जुड़े इस दार्शनिक विवेचन में ऋषियों, मनीषियों, संतों एवं दार्शनिकों ने अमूल्य योगदान दिया है। निस्सन्देह नई प्रौद्योगिकी एवं विश्व बाज़ार इस पर दबाव डाल रहे हैं। अतः इसे भारतीय संस्कृति का संक्रमण काल भी कहा जा सकता है।

जब संस्कृति का जिक्र आता है तो इसके समकक्ष एक अन्य शब्द सभ्यता का विवेचन करना भी उचित रहेगा। कभी-कभी इन दोनों शब्दों के एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग कर लिया जाता है जो भ्रमित कर देता है। सभ्यता का शब्दिक अर्थ है-सभा में बैठने की योग्यता। अतः सामाजिकता ही सभ्यता शब्द का प्रधान अर्थ है। सभ्यता सामाजिक

गतिविधियों पर बल देती है। शिष्टाचारगत नियमों के साथ-साथ सामाजिक उत्तरदायित्व एवं सामाजिक आचरण भी सभ्यता द्वारा ही निर्दिष्ट होते हैं। अतः सभ्यता द्वारा मनुष्य की भौतिक सुख समृद्धि तथा तदन्तर्गत व्यवहार का परिज्ञान होता है। इसी आधार पर जो राष्ट्र भौतिक दृष्टि से अधिक प्रगतिशील हैं वे स्वयं को दूसरे राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक सभ्य मानते हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृति एवं सभ्यता-ये दो शब्द व्युत्पत्ति एवं भाव दोनों ही दृष्टियों से नितान्त भिन्न हैं। भारत के प्राचीन साहित्य में भारतीय मनीषियों ने संस्कृति के लिये धर्म एवं सभ्यता के लिये अर्थ का प्रयोग किया था किन्तु कालान्तर में धर्म एवं अर्थ शब्दों का अर्थ नितान्त संकुचित होता गया। किन्तु एक तथ्य यह भी है कि नितान्त भिन्न होते हुए भी ये दोनों शब्द एक दूसरे के पूरक हैं। सभ्यता यदि व्यक्ति के शारीरिक एवं भौतिक विकास को परिलक्षित करती है तो संस्कृति उसकी बौद्धिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक प्रगति की सूचक है। हम ऐसा भी कह सकते हैं कि संस्कृति का बाह्य क्रियात्मक रूप सभ्यता है।

भारतीय संस्कृति की क्या विशेषताएं हैं इस पर इस पत्रिका में छपे लेखों में प्रकाश डाला गया है। किन्तु एक विशेषता का जिक्र मैं अवश्य करना चाहूंगा। भारतवासियों ने अपने विकास के प्रारम्भिक काल में जल, जंगल, ज़मीन से रिश्ता विकसित करते हुए जिस कृषि क्रांति का सूत्रपात किया वह आज भी उनकी जीवन शैली का आधार है। भारत माता आज भी ग्रामवासिनी है। हमारे सारे पर्व-त्यौहार और सांस्कृतिक अनुष्ठान उस कृषक संस्कृति की ही देन हैं। इसी कृषक-संस्कार ने हमारे भीतर प्रकृति एवं पर्यावरण के साथ संतुलन बनाये रखने की समझ पैदा की। हजारों वर्षों तक हमारी संस्कृति प्रकृति की गोद में फलती फूलती रही। किन्तु यूरोप की औद्योगिक क्रांति के संपर्क में आते ही यह संतुलन बिगड़ गया। अभी सब कुछ नहीं बिगड़ा है एवं हमें अपने अस्तित्व के लिये उसी प्रकृति पर आधारित संस्कृति की ओर लौटना होगा।

सांस्कृतिक पुनुत्थान एवं भारत विकास परिषद्—भारतीय संस्कृति की अनेक विशेषताओं में इसकी अक्षुण्णता एवं निरन्तरता भी एक बहुत बड़ी विशेषता है। यूनान, मिस्र एवं रोम कभी संसार की महान संस्कृतियाँ एवं सभ्यताएँ थीं। आज इन देशों की गिनती आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पैमाने पर विश्व के सबसे निचले पायदान वाले देशों में होती है। वास्तव में उनकी प्राचीन संस्कृति की झलक देने वाली कुछ इमारतें ही शेष बची हैं। उस वैभवशाली भूतकाल का कोई चिन्ह वहां के निवासियों के जीवन या आचरण में नहीं मिलता। तब आखिर भारत किस प्रकार उस महान संस्कृति को बचाये हुए है एवं इसकी अक्षुण्णता एवं निरन्तरता बनी हुई है। गीता

का एक अत्यंत लोकप्रिय श्लोक-‘यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत.....’ से सभी परिचित हैं। जैसा कि इस लेख में कहा गया है हमारे प्राचीन ग्रंथों में धर्म शब्द एक व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ समस्त जीवन शैली, सामाजिक आचरण एवं मानसिक सोच से है।

किसी संस्कृति की अक्षुण्णता एवं निरंतरता उसमें अन्तर्निहित आदर्शों, मर्यादाताओं तथा विचारों के साथ-साथ उस जनसमुदाय पर भी निर्भर करती है जो उसका अनुयायी है। भारतवर्ष एवं भारतीय संस्कृति का यह सौभाग्य है कि यहां समय-समय पर ऐसे अवतार, मनीषी एवं ऋषि जन्म लेते रहे हैं जिन्होंने भारतीय संस्कृति को अवनति की जाने से न केवल रोका है अपितु नये विचारों एवं आदर्शों से उसे अनुप्राणित किया है। केवल व्यक्ति ही नहीं अपितु अनेक संस्थाएँ भी समय के अनुसार अस्तित्व में आई हैं एवं उन्होंने सांस्कृतिक पुनरोत्थान का कार्य किया है। व्यक्तियों की यह श्रृंखला मर्यादा पुरुषोत्तम राम, योगेश्वर कृष्ण से आदि शंकराचार्य, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानंद तक फैली हुई है। संस्थाओं में भी शंकराचार्य द्वारा स्थापित चारों मठ, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, ब्रह्मसमाज इत्यादि के नाम लिये जा सकते हैं।

मैं भारत विकास परिषद् को निस्संकोच रूप से उन संस्थाओं की श्रेणी में रखने का साहस कर सकता हूँ जिन्होंने भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण एवं पुनरोत्थान में महत्वपूर्ण रोल अदा किया है या कर रही हैं। संस्कार एवं सेवा परिषद् के मुख्य मूल मंत्र हैं एवं इसकी गतिविधियों का केन्द्र हैं।

संसार के लगभग प्रत्येक देश एवं समाज में विषमता थी एवं आज भी है। उच्च वर्ग एवं समाज की निचली सीढ़ी पर खड़े लोगों के जीवन स्तर में प्रायः ही अन्तर रहता है। इस खाई के पाटने के प्रयास भी होते रहते हैं। इसे समाप्त करने का एक तरीका खूनी क्रांति है जैसा कि फ्रांस रूस, चीन इत्यादि में हो चुका है। यह उपाय अत्यंत बर्बर है एवं इसकी कीमत उस समाज को जन एवं धन की हानि के रूप में लम्बे समय तक चुकानी पड़ती है। दूसरा उपाय समाज के प्रबुद्ध एवं समृद्ध वर्ग को संगठित करके समाज के कम भाग्यशाली वर्ग की सेवा की ओर उन्मुख करना है। साम्यवादी इसे जनता की अफीम कह सकते हैं किन्तु यह भारतीय पद्धति है एवं अत्यंत सफल है। यह भारतीय संस्कृति का अंग है। संभवतः यही कारण है कि भारतवर्ष में कभी भी इस प्रकार की खूनी क्रांति नहीं हुई है।

भारत विकास परिषद् समृद्ध एवं प्रबुद्ध वर्ग की मानसिकता को बदलकर उन्हें जन सेवा की ओर उन्मुख करने के प्रयासों में जुटा हुआ है। इन प्रयासों में कुछ सफलता प्राप्त हुई है किन्तु अभी बहुत कुछ करना शेष है। □

Editor's Reflections

Sewa After Retirement

"Even the least work done for others awakens the power within, even thinking the least good of others gradually instills into the heart the strength of a lion".

- Swami Vivekanand

The size of the aged segment of the population is increasing. The senior citizens i.e. those above 60 years were 7.79% of the population in 2001. Now it is projected to become more than 8.7% So, presently more than 9 crore senior citizens are living in India.

This population of the aged contains a special section, whose who have retired from a salaried job. On reaching a particular age say 60, 62 or sometimes 65 they get a sudden break in their life. One day they were quite busy, engaged in a satisfying round of activities. Each working day they got up at a particular hour, dressed in a particular fashion and left at a particular time to do a specific work. But suddenly on one fine day they find themselves without any work at all.

This sudden break from a life of intense work is wonderful for a few weeks. Then what? There are just not that many odd jobs around the house and garden to keep you tuned up. TV is an easy way to pass the time. A few weeks can be passed in this fashion but this type of voluntary inertia will very soon produce a very dull and bore person.

A vicious circle of pain - worry - depression leading to more pain - worry depression may set in. Any pain or discomfort is enhanced by the state of mind. This is all too common after retirement. Many times the basic cause of vague pains is not diagnosed immediately by the doctor. This is the background to the situation we have all heard of a sudden death within a year or two of the retirement. "Never sick a day in his life, just up and died last week."

But there is an other side to this retired life of pain, worry and depression. If you have a positive outlook and are determined to do something new in this new phase of life, you will find that a new vista has opened before you. The greatest change is that until now your

work and daily life followed a pattern planned by others. Probably, throughout your working life, you worked and made decisions based on what someone expected of you, or what you had to do to earn a living. In the modern age work has a narrow meaning and is considered an activity for which an individual sells his time and labour to earn money. But now the time has come when you can devote your time to something you dreamed long ago but put aside because it was not practical.

A successful retirement depends upon an attitude of becoming and changing and living and loving. Your dreams come true. So, you should lay aside all your fears of boring and pointless future and make a new beginning.

Some retirees, especially senior bureaucrats in Delhi and other state capitals, try to wrangle some government assignment or the other. A handful of these are lucky. But this employment will also come to an end some day and they will face the same dilemma again. Moreover in this age of unemployment when jobs are hard to come by even for youngmen who is going to re-employ an old person.

The activities which a retiree can undertake may be related to body, mind and spirit. The first priority should be to keep oneself fit physically. Walking, Yoga and some light sports like badminton, if undertaken regularly will keep the retirees in prime health, Hobbies like gardening, music, painting etc. will do immense good to mind and keep you busy. Of course, writing is the best hobby if you can persist and manage to get printed in a magazine. Joining some library and cultivating a habit of reading good books is the best mental exercise.

Sewa

Now comes the spiritual side of life. Retirement can be favorably compared to Vanprastha. Vanprastha does not mean inactivity. Gita requires a man to continue work in every phase of life, Karma Yoga assigns an exalted position to activity and contemplates no period when it is wholly renounced. But the activity should be of different kind than what was in the working life. Its goal should not be to earn money or to get power and position. The aim of activity in this phase of life ought to be to serve others.

The philosopher Kierkegaard once wrote: "the door to happiness opens outwards". By the he meant that we must seek fulfilment in

relationship with others, and perhaps especially in relation to those who have less than we do. India with its teeming millions offers many opportunities to be of service to those who are less advantaged. Many voluntary organizations, clubs, Ashrams, etc., are active in this field but still many more are required. It would be impossible to list all such organizations and the things they do but the range is broad.

You need to consider your own personlity before you volunteer. Some people find it difficult to work with people with certain disabilities or who live in difficult situations. But the choice of activities is so broad that you should be able to find something suitable. Most of the aged in India do not like to join voluntary organizations because their social life revolves round the family members and other near and dear ones, and they do not have to depend on organizations to feel the sense of belonging. But with the breaking of the joint family system, families have partially cease to maintain and help the aged. In such conditions it is necessary to have an interaction with people other than family members. It helps to raise their morale and gives them a sense of integration, belonging, and usefulness for the society. It also gives them recognition and leads to a more satisfying life in old age.

Swaidhyay, Sanyam and Sewa should become the basic tenants of life of a retiree who is a modern Vanprasthi. Every person takes something from the society and is indebted to every other member of the society in which he lives. In this stage of life he should cease thinking of taking something from others but should be ready to pay back what he has taken earlier.

Vivekanand exhorted "Where else should you go to seek God?" Are not all the poor, the miserable, the weak, Gods? Know that service to the poor, the illiterate, the ignorant and the afflicted alone is the highest religion and of highest spiritual value."

So, always keep in mind "Sewa is worship".

I don't want to be a great leader; I want to be a man who goes around with a little oil can and when he sees a breakdown, offers his help. To me, the man who does that is greater than any holy man in saffron-colored robes. The mechanic with the oilcan: that is my ideal in life.

Holy Wisdom rRo Kku

मौन का उपासक

किसी दीपक में अधिक तेल होता है, किसी में कम, परन्तु तेल का अक्षय भंडार किसी दीपक में नहीं होता। इसी प्रकार देव, मानव, दानव सबकी प्राणशक्ति सीमित है। इस प्राणशक्ति का पूर्ण लाभ वही पा सकता है, जो संयम से इसका उपयोग करता है और संयम का प्रथम सोपान है वचोगुप्ति, अर्थात् वाक्संयम। जो वाणी का संयम नहीं रखता, उसकी जिह्वा बोलती रहती है। बहुत बोलने वाली जिह्वा अनावश्यक बोलती है; और अनावश्यक शब्द प्रायः विग्रह और वैमनस्य पैदा करते हैं जो हमारी प्राणशक्ति को सोख लेता है। इसलिए मैं मौन का उपासक हूँ।

(वेद व्यास की जिज्ञासा के उत्तर में गणेशजी)

★ ★ ★ ★ ★

IMMORTALITY

There is only one way to get ready for immortality, and that is to love this life and live it as bravely and faithfully and cheerfully as we can.

★ ★ ★ ★ ★

THE SPLENDID TORCH

Rejoice life for its own sake. Life is not a brief candle; it is a splendid torch. Get hold of it and burn it as brightly as possible before handing it on to future generations.

‘भारतीय संस्कृति’ – एक अवलोकन

– किशोर अग्रवाल

‘संस्कृति’ मानव की सहज प्रवृत्तियों, नैसर्गिक शक्तियों और उनके परिष्कार का द्योतक होती है। संस्कृति शब्द से किसी विशेष भूखण्ड की क्षमता एवं प्रगति का दीर्घकालीन इतिहास पता चलता है। संस्कृति में कला, ज्ञानविज्ञान, धर्म, दर्शन, रीति रिवाज, परम्पराओं तथा विभिन्न सामाजिक प्रथाओं का समावेश होता है। यह मानव को मानव बना देने वाले विशिष्ट तत्वों में अन्यन्तम है। वे सारी अभिव्यक्तियां संस्कृति कही जा सकती हैं जो मानव को मानसिक आत्मिक तथा बौद्धिक विशिष्टतायें प्रदान करती हैं। संस्कृति किसी भी देश के असंख्य व्यक्तियों के दीर्घकालीन प्रयत्नों के परिणाम से पल्लवित होती है। समय के साथ-साथ सभी स्व सामर्थ्य और योग्यतानुसार संस्कृति के निर्माण में सहभागी बनते जाते हैं।

श्री हरिदत्त वेदालंकार ने संस्कृति निर्माण की प्रक्रिया को कुछ इस प्रकार व्यक्त किया है—“संस्कृति की तुलना आस्ट्रेलिया के समुद्र में पायी जाने वाली मूंगे की चट्टानों से की जा सकती है। मूंगे के कीड़ों ने असंख्य घर बनाये और समाप्त हो गये उनके बाद फिर नये मूंगों के कीड़ों ने असंख्य घर बनाये और वह भी समाप्त हो गये। इस प्रकार यह क्रम हजारों वर्षों तक चलता रहा परिणाम स्वरूप मूंगों के उन नन्हें-नन्हें घरों ने विशालकाय चट्टानों का रूप ले लिया। इसी प्रकार संस्कृति का निर्माण भी शनै-शनैः हजारों वर्षों में हो पाता है।”

किसी भी देश की संस्कृति विभिन्न युगों के आचार एवं विचार की परम्परा से उत्पन्न परिष्कृत स्थिति का द्योतक होती है। विश्व में भारतीय संस्कृति प्राचीन अनुपम तथा सर्वोत्तम मानी जाती है। प्राचीन काल में भारत आर्यवर्त के नाम से जाना जाता था। काव्य मीमांसा में राजशेखर ने भारत की भौगोलिक स्थिति का विवरण इस प्रकार दिया है—“यह भगवान मेरु प्रथम वर्ष पर्वत है। उसके चारों ओर इलावृत्त वर्ष है। उसके उत्तर में खेत नील तथा श्रांगवान नामक तीन वर्ष हैं। उनके देश रम्यक, हिरण्यमय, उत्तर कुरू आदि हैं। दक्षिण में भी निषद हिमकूट तथा हिमवान तीन पर्वत हैं। इनके भी हरिवर्ष, किम्पुरुष, भारत आदि तीन देश हैं। उनमें यह भारतवर्ष है और इसके नौ भेद (विभाग) हैं यथा-इन्द्रदीप कसेरुमान, ताम्रपर्ण, गमस्तिमान, नागदीप, सौम्य, गंधर्व, वरुण तथा कुमारी। हिमालय तथा विन्ध्याचल एवं पूर्वी तथा पश्चिमी

समुद्र के मध्य आर्यावृत है। वहीं पर चतुराश्रम तथा चार वर्ष पाये जाते हैं। वहीं पर सदाचार की जड़ भी है।”

भारतीय संस्कृति केवल आर्यों की ही नहीं कही जा सकती है। इसमें द्रविण, ईरानी, यवन, शक, कुषाड, हूण, अरब, तुर्क व मुगल आदि संस्कृतियों का भी समावेश है। भारतीय संस्कृति आर्य तथा अनेक जतियों की विविध सुदीर्घ साधनाओं के सम्मिश्रण का फल है। विश्व की प्राचीनतम व महानतम संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति को विशिष्ट स्थान प्राप्त होने के अनेक कारण हैं। भारतीय संस्कृति की अनेक विशेषतायें इसे विलक्षण संस्कृति का स्थान प्रदान करती हैं।

प्राचीनता तथा अक्षुण्णता

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति है। मिस्र की संस्कृति इसके समकालीन थी। वर्तमान में उसके केवल अवशेष बचे हैं। विश्व की अधिकांश संस्कृतियां कालान्तर में जर्जर होकर इतिहास की विषय वस्तु बनकर रह गईं। भारत की संस्कृति प्रारम्भ से लेकर आज तक दीर्घजीवी सिद्ध हुई है। अनेक युग परिवर्तनों के बाद भी मौलिक रूप में अक्षुण्ण रहकर भी भारतीय संस्कृति जीवित रही है। धार्मिक क्षेत्र में हजारों वर्ष पूर्व राम कृष्ण ब्रह्मा और शिव पूर्व की भाँति पूजनीय हैं। भारत के विभिन्न प्रदेशों को अपने पावन जल से सिंचित करने वाली गंगा, यमुना, कावेरी, गोदावरी, नर्मदा, सिन्धु आदि अनेक नदियां हजारों वर्षों से पवित्र मानी जाती हैं। हिन्दू समाज में मानव के संस्कारों को पूर्ण कराते वेद मंत्र साक्षात् परमात्मा की वाणी माने जाते थे जो आज भी उसी श्रद्धा और विश्वास से उच्चारित किये जाते हैं। अनेक विदेशी बाह्य आक्रमणों को झेलकर भी भारतीय संस्कृति की आत्मा जस की तस बनी रही।

समन्वय तथा सहिष्णुता

विश्व की अनेक संस्कृतियों में कट्टरता तथा धर्मांधता जैसे अवगुण पाये जाते थे जिनके कारण ये संस्कृतियां शीघ्र ही नष्ट हो गईं। इन संस्कृतियों में सहिष्णुता का सर्वदा अभाव था। सुकरात को जहर पीना पड़ा और ईसा को भी सलीब पर टांगा गया। ये घटनायें कट्टरपंथियों के द्वारा धर्मोन्माद में की गईं। भारतीय संस्कृति ने विभिन्न धर्मों, विभिन्न पंथों तथा विभिन्न विचारधाराओं को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की तथा उन्हें संजोकर रखा। वैदिक धर्म के समय जैन तथा बौद्ध धर्म का उदय हुआ तो महावीर और बुद्ध को भी अवतार मानकर स्वीकार किया गया। भारत में धार्मिक स्वतन्त्रता, विभिन्न जाति वर्गों की रहन-सहन, खान-पान, पूजा पद्धतियों की भिन्नताओं को भी भारतीय संस्कृति ने सहज भाव से स्वीकार किया। शायद इसीलिये भारत में

साम्प्रदायिक युद्धों का कोई इतिहास नहीं है।

संरक्षण प्रदान करना तथा सर्वांगीण विकास

प्रोफेसर हुमायुं कबीर ने लिखा है-“ भारतीय संस्कृति की कहानी एकता और साधनों का समन्वय है तथा प्राचीन पराम्पराओं और नवीन मान्यताओं के पूर्ण संयोग की उन्नति की कहानी है।” भारतीय संस्कृति की एक विशेषता यह रही कि बाहर से आये यूनानी, मुगल व ईसाई आदि की संस्कृतियों के कुछ अंशों को ग्रहण कर लिया किन्तु अपना मूल स्वरूप नहीं बदला। वस्तुतः जो भी प्रथा या व्यवस्था यहां उत्पन्न होकर एक बार आत्मसात कर ली गई वह भारतीय संस्कृति का हिस्सा बन गई। भारत में मनुष्य के सर्वांगीण विकास पर पूरा ध्यान दिया जाता है। भारत में व्यक्ति के मानसिक शारीरिक भौतिक तथा आध्यात्मिक विकास पर जोर दिया जाता है। मानव के कर्मों को चार पुरुषार्थों तथा जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया गया है। धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष से मानव का भौतिक आध्यात्मिक शारीरिक व मानसिक विकास होता है। पूरे जीवन काल को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास में विभक्त करके व्यक्ति निर्माण, परिवार निर्माण, समाज निर्माण के बाद मोक्ष प्राप्ति का मार्ग भी प्रशस्त किया गया है।

कर्म में विश्वास तथा धर्म प्रधानता

भारतीय संस्कृति कर्म करने की प्रेरणा देती है। पुरुषार्थ इसकी एक अन्य विशेषता है। भाग्य भरोसे हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाना निष्क्रियता है जो मृत्यु के समान है। उपनिषदों में कहा गया है-“ सोता हुआ व्यक्ति कलियुग है, निद्रा समाप्त कर जम्हाई लेता द्वार युग है, आलस्य त्याग कर उठता व्यक्ति त्रेता युग है और चलता हुआ व्यक्ति ही सतयुग है।”

धर्म भारतीय संस्कृति की मूल आत्मा है। भारत में व्यक्ति में जन्म से ही धर्म के संस्कारों का बीजारोपण कर दिया जाता है जिससे वह धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, कर्म अकर्म के भेद को जान जाता है तथा दुष्कर्मों से निवृत्त होकर सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त रहता है। भारतीय ऋषियों के अनुसार धर्म वह है जिसके आचरण से इहलोक व परलोक दोनों सुधर जाते हैं तथा संसार उन्नति को प्राप्त होता है। भारतीय संस्कृति का मूल तत्व भी यही है कि धर्म सम्पूर्ण उन्नति का मूल है और मनुष्य के जीवन का जन्म जन्मांतर का साथी है तथा मृत्यु के पश्चात भी धर्म ही साथ निभाता है।

समाज कल्याण

भारतीय संस्कृति में प्रारम्भ से ही विश्व बन्धुत्व और वसुधैव कुटुम्बकम् की धारणाओं को आत्मसात किया गया है। घर, समाज, नगर, प्रान्त, देश तथा सम्पूर्ण

वसुधा के प्राणियों का कल्याण करने की भावना भारतीय जनमानस में विद्यमान रहती है। भारतीय कहते हैं-

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

त्याग समर्पण व संयम

अन्य संस्कृतियों का आधार भोगवाद है जब कि भारतीय संस्कृति संयम, त्याग व समर्पण पर आधारित है। हमारे यहां ऋषि मुनि लोक कल्याण के लिये संयम से त्याग करके मानव हित के लिये प्रयत्नशील रहे हैं। अधिकांश रोगों की चिकित्सा भी संयम से परहेज करके की जाती है। हमारे यहां व्यष्टि के स्थान पर समष्टि को स्थान दिया गया है।

प्रकृति संरक्षण

भारत में केवल मानव को ही समानता की दृष्टि से नहीं देखा जाता बल्कि पशु, पक्षी, पेड़, पौधे सभी को संरक्षण प्रदान कर जीने तथा फलने फूलने का अवसर प्रदान कर प्रकृति की रक्षा करने का भी पूरा ध्यान रखा गया है। भारत में व्रत, त्यौहार, पर्व व उत्सवों के नियम व परम्परायें इस प्रकार बनाई गईं जिससे निर्धन व्यक्ति, पशु, पक्षी, पेड़, पौधों को जीवन मिलता रहे, प्रकृति का विकास होता रहे तथा वह जीवन में उसकी सहायक बन सके।

भारतीय संस्कृति की ये कुछ प्रमुख विशेषतायें इसे देश और काल की सीमाओं से मुक्त होकर मानव का पथ प्रदर्शन करती हैं। आज भी पूरे विश्व में भारतीय संस्कृति प्राचीनतम तथा मानवीय और नैतिक मूल्यों तथा संस्कारों से सम्पन्न संस्कृति है जो मानव के सर्वांगीण विकास के लिये उस सूर्य की तरह है जो पूरी सृष्टि को प्रकाशमान रखता है।



मैं भगवान से अष्टसिद्धि या मोक्ष की कामना नहीं करता। मेरी यही एक प्रार्थना है कि समस्त प्राणियों के अंतःकरण में स्थित होकर मैं ही उनके समस्त दुखों को सहुं।
श्रीमद्भागवत

वर्तमान भारत की सांस्कृतिक चुनौतियाँ

- डॉ० वेदप्रताप वैदिक

परम्परा और परिवर्तन का अद्भुत समागम विश्व में यदि कहीं है तो वह भारत में है। दुनिया की पुरानी सांस्कृतियाँ जिन देशों में थीं, वे आज इतने बदल गये हैं कि उन्हें पहचानना भी मुश्किल हो जाता है। खंडहरों को देखकर ही विस्मृत अतीत की याद को ताजा किया जा सकता है। ग्रीस को देखकर यूनान को, इटली को देखकर रोमन साम्राज्य को, ईराक को देखकर सुमेरिया और मेसोपोटेमिया को, ईरान को देखकर आर्यावर्त को और इजिप्ट को देखकर मिस्री सभ्यता को आंख के पर्दे पर उतारना आसान नहीं होता लेकिन भारत ऐसा विलक्षण देश है कि उसके करोड़ों नागरिकों के दैनंदिन जीवन में उसके हजारों वर्षों का इतिहास निरंतर स्पर्दित होता रहता है।

इस इतिहास को और इस इतिहास के अहसास को नष्ट करने के लिए यहां अगणित आततायी आये लेकिन या तो उनका नामो-निशां मिटा गया या वे भारती की माटी में ही रच-पच गये। इस विराट् पाचन-शक्ति का ही नाम भारतीय संस्कृति है।

इस अदम्य भारतीय संस्कृति के सामने आज अनेक भयंकर चुनौतियाँ आ खड़ी हुई हैं। यदि इन चुनौतियों का भारत सफलतापूर्वक सामना नहीं कर सका तो इस महान् मानवीय परम्परा का अवसान तो हो ही जायेगा, भारत की भौगोलिक और राजनैतिक अखंडता भी खतरे में पड़ जायेगी।

सबसे बड़ी चुनौती तो संचार माध्यम उपस्थित कर रहे हैं। आज टी.वी. के पर्दे पर दुनिया के किसी भी कोने में चल रहा कार्यक्रम कोई भी देख सकता है। इसके परिणाम अच्छे भी हैं और बुरे भी ! एक ओर सूचनाओं और जानकारीयों का अपूर्व विस्फोट हो रहा है तो दूसरी ओर निर्बाध अश्लीलता हमारे घर-द्वार आंगन में प्रविष्ट हो गई है। पश्चिम से यह आशा करना व्यर्थ है कि वे अपने कार्यक्रमों पर भारतीय मर्यादाओं की कैंची चलायेगे। हमारे दर्शकों से भी यह आशा करना कि वे उन कार्यक्रमों का एकदम बहिष्कार करेंगे, जरा ज्यादाती होगी। भारत में नेता तो टुके सेर हैं लेकिन आज एक भी ऐसा बड़ा नाम नहीं है, जिसके चलते लोग आत्मानुशासन करें। शासन ने इन महत्वपूर्ण प्रश्नों के प्रति स्वयं को तटस्थ कर लिया है। लगभग समस्त टी.वी. चैनल पश्चिमी चैनलों को मात देने के लिए ऐसे फूहड़ और अश्लील

कार्यक्रम प्रस्तुत करता है, जो सुरुचि और संस्कृति के नाम से जुगुप्सा और विकृति उत्पन्न करते हैं। पश्चिमी कार्यक्रमों के प्रति हमारे परिवारों में अब भी थोड़ी सतर्कता शेष है लेकिन जब चैनल ही निर्वसन होने पर उतारू है, तब क्या किया जाये? हमारे राजनैतिक दलों के नेताओं को एक-दूसरे की टांग खींचने से फुरसत मिले तो वे इन तात्त्विक प्रश्नों पर भी कुछ ध्यान दें!

टी.वी. के. पर्दे पर जो जहर रोज बरस रहा है, बच्चों, स्त्रियों, युवजन तथा बुजुर्गों सभी को एक साथ ध्वस्त कर रहा है। अगर समाज का कोई एक मनचला तबका इस विष को अपने कण्ठ में रखने के लिए विह्वल हो तो यह व्यतिक्रम भी लोकतांत्रित समाज में बर्दाश्त किया जा सकता है लेकिन सांस्कृतिक प्रलय का यह भुजंग अब प्रत्येक कंठ में लिपट रहा है। यह परिवार नामक मानव जाति की मूल संस्था पर कुठाराघात कर रहा है। औरत और मर्द के रिश्तों को सिर्फ शरीर तक सीमित कर रहा है। आंख की शर्म अब धीरे-धीरे हवा हो रही है। इसका असर हमारी भाषा, भूषा, भोजन, भजन और भेषज सभी पर हो रहा है। मानसिक तौर पर निष्क्रिय बनाने का काम तो कामेवेश सभी टी.वी. करते हैं लेकिन पश्चिम टी.वी. और उससे अनुगत भारतीय टी.वी. कार्यक्रम हमारे नागरिकों को 'नैतिक नपुंसक' बना रहे हैं, पश्चिम की दासता बढ़ा रहे हैं और भारत को पश्चिम का सांस्कृतिक उपनिवेश बना रहे हैं। आश्चर्य है कि जो लोग बहुराष्ट्रीय निगमों के पांव पसारने के विरुद्ध चिल्ल-पों मचा रहे हैं वे लोग भी पश्चिम के सांस्कृतिक हमले और उसके साथ कंधे से कंधा मिलाकर 'पौरू' की फौज की तरह काम कर रही भारतीय नौकरशाही के विरुद्ध मौनव्रत धारण किये हुए हैं। इस प्रश्न पर देश में एक बृहत् सांस्कृतिक अभियान का श्रीगणेश कब होगा? कौन करेगा?

भारती की शिराओं में एक और मीठा जहर योजनाबद्ध ढंग से प्रतिष्ठ हो रहा है। वह है-अंग्रेजी के दबदबे का! अपनी भाषाओं की उपेक्षा और परदेसी भाषा की ताजपोशी ने भारतीयों को नकलचियों का देश बना दिया है। चाहे शुद्ध चिंतन हो, शिक्षा-दीक्षा हो, राजकीय काम-काज हो, अदालत हो, फौज हो, साहित्य हो-हर क्षेत्र में अंग्रेजी का बोलबाला है। मेरा कहना यह नहीं है कि विदेशी भाषाएं अस्पृश्य हैं। वास्तव में उनकी जितनी जानकारी हो, उतना ही अच्छा है। सूचना, ज्ञान और आनंद की जितनी खिड़कियां खुलें उतना ही मानव जीवन उच्चतर बनता जाता है, लेकिन हम दुनिया की सारी खिड़कियां बंद कर दें और अपनी भाषाओं के सभी दरवाजे भी बंद कर दें और सिर्फ अंग्रेजी की एक खिड़की खोले हुए बैठे रहें तो क्या हम सामान्य

मनुष्य रह पायेंगे ? वह मकान भी क्या मकान है, जिसमें सिर्फ एक ही खिड़की हो? उससे तो सांप की बांबी ज्यादा अच्छी!

भारत की राजनैतिक स्वतंत्रता तब तक अधूरी रहेगी जब तक भारत के लोग अपना सभी काम अपनी भाषाओं में करने के लिए स्वतंत्र न हों। सांस्कृतिक स्वतंत्रता के बिना राजनैतिक स्वतंत्रता पंगु ही बनी रहती है। मोरिशस का राज्य जब फ्रांसीसियों ने अंग्रेजों को सौंपा तो उन्होंने यह लिखवा लिया कि मोरिशस के मालिक अब अंग्रेज ही होंगे लेकिन देश की भाषा फ्रांसीसी ही रहेगी। नतीजा यह हुआ? अंग्रेजी वहां आई जरूर लेकिन मोरिशस की वास्तविक राष्ट्रभाषा आज फ्रांसीसी ही है। घर-घर में लोग फ्रांसीसी ही बोलते हैं। नयी पीढ़ी की मातृभाषा हिन्दी या भोजपुरी नहीं है, फ्रांसीसी है। हिन्दी भाषियों के देश में हिन्दी अब दम तोड़ रही है।

सांस्कृतिक सत्ता ने राजनैतिक सत्ता को कैसे परास्त किया है, इसका सबसे बड़ा उदाहरण तो आज मोरिशस की अर्थ-व्यवस्था ही है। फ्रांस मोरिशस का सबसे बड़ा व्यापारिक भागीदार है। एक प्रतिशत फ्रांसीसी लोग ही आज भी मोरिशस के चीनी-उद्योग पर काबिज है। भाषा को पटनी बनाकर फ्रांस मोरिशस के घर-घर में घुस गया है। क्या भारत का भी यही हश्र होगा? भारत, भारत है। वह आक्रमणों का मुकाबला करना जानता है लेकिन इस बार जो सांस्कृतिक आक्रमण हो रहा है, वह बहुत सूक्ष्म है, चारों तरफ से हो रहा है, और उसके कंधा लगाने वाले हमारे अंदर मौजूद है।

भारत को उक्त चुनौतियां का सामना तो करना ही है, इसके अलावा उसके सामने सबसे बड़ी चुनौती यह है कि उसकी विश्व-भूमिका क्या हो? यह ठीक है कि भारत अभी अमेरिका की तरह ताकतवर नहीं है। कुवैत की तरह मालदार नहीं है। लेकिन आज भी दुनिया के कोने-कोने में भारतीय संस्कृति और परम्परा के प्रति अद्भुत ललक है। भारत का बड़ा सम्मान है। वैचारिक संकट में फंसी दुनिया भारत की ओर टकटकी लगाये हुए हैं। वह सोचती है कि गांधी का देश शायद कुछ राह बताये। आज साम्यवाद का सुदृढ़ किला भूसे के ढेर की तरह ढह गया है। पूंजीवाद दुनिया को कोई संतोषजनक जीवन-पद्धति नहीं दे पाया है। रूस और चीन के लगभग सवा अरब लोग तो एक प्रकार के विचारधारात्मक शून्य में भटक ही रहे हैं, तीसरी दुनिया के करोड़ों लोग भी यह तय नहीं कर पा रहे हैं कि उन्हें किधर जाना है? उन्हें एक डर यह भी है कि कोई खास जीवन-पद्धति अपनाने का मतलब कहीं यह नहीं हो कि वे किसी खास महाशक्ति के मोहरे बन जायें।

भारत की तरफ जब वे देखते हैं तो इस तरह की आशांकाओं से वे मुक्त होते हैं। भारत का अपना इतिहास विस्तारवाद या उपनिवेदशवाद के कलंक से सर्वथा मुक्त रहा है। वास्तव में भारत विश्व-मंगल का देश रहा है। आजाद होने के बाद उसने मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की राह पकड़ी, इस देश को मजहबी राष्ट्र बनाने की बजाय उसने सर्वसमन्वयकारी उदार राष्ट्र बनाया, किसी एक गुट का मोहरा बनने या उसका सरगना बनने की बजाय उसने अंतरराष्ट्रीय दुनिया में गुट-निरपेक्षता का वरण किया, उसने परम्परा और परिवर्तन में, वैज्ञानिकता और आध्यात्मिकता में, सत्ता और स्वतंत्रता में-कहना चाहिए कि जीवन के हर क्षेत्र में विलक्षण संतुलन का परिचय दिया है। इस विलक्षण संतुलन का मूल भारतीय संस्कृति में है। मध्यम मार्ग का यह संदेश आज विश्व की आवश्यकता है। क्या सांस्कृतिक संकट में फंसी मानवीय सभ्यता की गुहार को भारत सुन रहा है? □

भारतीय संस्कृति में कर्म-सिद्धान्त

— डॉ० शशिप्रभा कुमार

‘संस्कृति’ शब्द सामान्यतः संस्कार या परिमार्जन का बोधक है। इसे कृषि-प्रक्रिया एवं उसके आंग्ल पर्याय से इस भाँति समझा जा सकता है—

संस्कृति = Culture, Agriculture = कृषि

जैसे कृषि में अनावश्यक घास-फूस को खोदकर निकाल दिया जाता है और उपयोगी बीजों को बोया जाता है तथा खाद-पानी देकर पुष्ट किया जाता है, उसी प्रकार संस्कृति में अवांछनीय तत्त्वों, दुर्गुणों, दोषों आदि को हटाया जाता है और उनके स्थान पर सद्गुणों एवं शुभ तत्त्वों को प्रतिष्ठित किया जाता है। इस दृष्टि से दुर्गुण निवारण और सद्गुण संस्थापन ही संस्कृति है। संस्कृति का यह क्रम जीवनभर चलता रहता है—जीवन के बाद भी अगले जन्मों तक सूक्ष्म संस्कारों के रूप में बद्धमूल रहता है। अतः मानव-जीवन को ‘संस्कृत’ बनाने के लिए, मनुष्यत्व से देवत्व की ओर अग्रसर करने के लिए संस्कृति के सन्दर्भ में कर्म-सिद्धान्त पर विचार करना अभीष्ट है। नृविज्ञान के विद्वानों का मत है कि समस्त सीखा हुआ व्यवहार ही संस्कृति है। इसलिए धर्म, दर्शन, आचार-विचार और रहन-सहन की जिन मान्यताओं को मनुष्य ने परम्परा से अर्जित किया, वे ही उसकी संस्कृति के मूल उपादान हैं—ये उपादान या तत्त्व सनातन होते हैं, उन्हें किसी प्रकार भी देश-काल की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता।

इस आधार पर भारतीय संस्कृति भारत देश का प्राणतत्त्व है क्योंकि इसी पर भारत का वैशिष्ट्य आधृत है। विश्व के जिन राष्ट्रों ने अज्ञात अतीत से अपने सांस्कृतिक गौरव को सुरक्षित बनाये रखा, उनमें भारत का नाम अग्रगण्य है। भारतीय संस्कृति का वैचारिक आधार यहाँ का दर्शन एवं चिन्तन रहा है, जीवन के प्रति भारतीयों की विचारधारा ही भारतीय संस्कृति में अभिव्यक्ति हुई है। वेद भारतीय संस्कृति के मूल हैं और वेदों में निहित चिन्तन ही क्रमशः उपनिषद्, गीता एवं दर्शनशास्त्रों में विकसित हुआ। तदनुसार यह सारी सृष्टि एक व्यवस्था, अटल नियम और मर्यादा में आबद्ध है, जिसे ‘ऋतु’ कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य-जीवन के प्रेरक जो नैतिक आदर्श हैं, उन सबका आधार सत्य है। इन ‘ऋतु’ और ‘सत्य’ की भावनाओं का व्यापक विस्तार ही ‘कर्म-सिद्धान्त’ के रूप में हुआ।

सम्पर्क F सहयोग F संस्कार F सेवा F समर्पण

पढ़िये और पढ़ायें तथा भेंट करें

GYAN PRABHA
(QUARTERLY)

ज्ञान
प्रभा

त्रैमासिक

19

आगामी अंक
संस्कृति पर कुछ और सामग्री

त्रैमासिक ज्ञान प्रभा के
आजीवन सदस्य बनें।

सहयोग राशि वार्षिक
100/-
आजीवन 1500/-

कर्म-सिद्धान्त भारतीय संस्कृति का एक केन्द्रीय बिन्दु रहा है। वैदिक युग से आज तक भारत के सभी प्रदेशों एवं सम्प्रदायों में इसकी मान्यता निर्विवाद रही है। यह एक ऐसा विलक्षण सिद्धान्त है जिसके द्वारा हम भारतीय चिन्तन को भारतेतर चिन्तन से पृथक् कर सकते हैं। भारतीय दर्शन की आस्तिक-नास्तिक, ईश्वरवादी-अनीश्वरवादी, जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त-सभी चिन्तनधाराओं ने कर्म-सिद्धान्त को माना है, भले ही उन सबने अपनी-अपनी दृष्टि के भेद से इसका विश्लेषण भिन्न-भिन्न रूपों में किया है; केवल लोकायत या चार्वाक ही एकमात्र अपवाद है जिसने इस सिद्धान्त को अस्वीकार किया है।

भारतीय मान्यता के अनुसार यह भूलोक कर्मभूमि है और मानव-जीवन कर्मयोनि। अतः कर्म के बिना कोई व्यक्ति क्षणभर भी नहीं रह सकता-

न जातु कश्चित्क्षणमपि तिष्ठत्यकर्मकृत्।

‘कर्म’ से किसी को मुक्ति नहीं मिल सकती, सारा संसार अपने-अपने कर्मों के बन्धन से बंधा हुआ है-

स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः।

वायु कर्म से ही चलती है, सूर्य-चन्द्रादि कर्म से ही गतिशील है, अतः उस कर्म को नमस्कार है-

सूर्यो श्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे।

इस भाँति कर्म की व्यापकता, प्रभविष्णुता और अपरिहार्यता सर्वजनसिद्ध है, किन्तु फिर भी यह प्रश्न सदा सबके मन में उठता रहता है कि यह ‘कर्म’ आखिर है क्या? गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस प्रश्न का उत्तर बड़े-बड़े विद्वान भी नहीं दे पाते-

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।

यह ‘कर्म’ केवल क्रिया या व्यापार है, कोई दार्शनिक सिद्धान्त है, धर्मशास्त्री विधान है, भाग्य की बलवत्ता का प्रतीक है अथवा कर्म-स्वातन्त्र्य का? इन विविध जिज्ञासाओं की दृष्टि से कहा जा सकता है कि ‘कर्म’ शब्द के दो अर्थ हैं-एक से कर्म के नियम का बोध होता है और दूसरे अर्थ से उस शक्ति का बोध होता है जो कर्म से उत्पन्न होती है। इसी शक्ति के द्वारा कर्मफल उत्पन्न होते हैं। कर्म और कर्मफल के अटूट नियम को ही प्रकारान्तर से ‘कर्म-सिद्धान्त’ कहा जाता है तथा इस कर्म-सिद्धान्त की विभिन्न व्याख्याओं के आधार पर उसे चार दृष्टियों से समझा जा सकता है।

(क) तत्त्वशास्त्रीय (Metaphysical)

(ख) नीतिशास्त्रीय (Ethical or Moral)

(ग) मनोवैज्ञानिक (Psychological)

(घ) धर्मशास्त्रीय (Scriptural)

तत्त्वशास्त्रीय दृष्टि से कर्म का सिद्धान्त यह प्रतिपादित करता है कि संसार एक सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध संरचना है जो कारण-कार्य के नियम से संचालित है। इसके अनुसार कर्म और कर्मफल में वही सम्बन्ध है जो कारण और कार्य में होता है।

नीतिशास्त्रीय दृष्टि से कर्म-सिद्धान्त यह निर्धारित करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने द्वारा किये गये शुभ-अशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। इसमें कर्म का कर्ता और भोक्ता एक ही व्यक्ति को माना गया है, अतः ऐसा नहीं हो सकता कि किसी एक व्यक्ति द्वारा किये गये कर्म का फल कोई दूसरा भोगे। यद्यपि यह अवश्य संभव है कि किन्हीं कर्मों का कर्ता एक व्यक्ति नहीं, अपितु व्यक्तियों का समूह होता है, अतः उनके फल का भोक्तृत्व भी सामूहिक ही होगा। इस प्रकार कर्म की नीतिशास्त्रीय व्याख्या में कर्म को पुरुषार्थ का पर्याय माना गया है तथा सत्कर्म को करने तथा अकर्म या कुकर्म के परिहार पर बल दिया गया है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कर्म-सिद्धान्त नियतिवाद या दैववाद का विरोधी है। तदनुसार यह मानव-जीवन में उसके अतीत कर्मों का नियन्त्रण तो स्वीकार करता है किन्तु भविष्य के स्वतन्त्र विकास की प्रेरणा भी देता है। इस सिद्धान्त का उदात्त एवं भव्य पक्ष यह सन्देश देता है कि जो वर्तमान है, वही पर्याप्त नहीं और जो अनागत है वही हमारे ‘कर्म’ के अधीन है, अतः उसी पर ध्यान देना चाहिए।

धर्मशास्त्रीय दृष्टि से कर्म-सिद्धान्त मनुष्य को यह विश्वास दिलाता है कि वह स्वयं अपने पुरुषार्थ के द्वारा दुःखों का निरोध करने में सक्षम है। जो शास्त्र ईश्वर को जगत् के कर्ता के रूप में मान्यता देते हैं, उनके अनुसार संसार में व्याप्त दुःखों का कारण ईश्वर नहीं, अपितु मनुष्य के अपने कर्म ही हैं-इस मान्यता से ईश्वर पर पक्षपात या निर्दयता का आरोप भी निराधार सिद्ध हो जाता है।

उल्लेखनीय है कि भारतीय संस्कृति में कर्म-सिद्धान्त की इन सभी व्याख्याओं का समन्वित एवं सूक्ष्म समावेश हुआ है। यह एक विचित्र तथ्य है कि यद्यपि विभिन्न विचारकों में तात्त्विक अथवा सैद्धान्तिक दृष्टि से मौलिक मतभेद पाये जाते हैं, तथापि नैतिक क्षेत्र में कर्म-सिद्धान्त की महत्ता को सभी भारतीय चिन्तकों ने स्वीकार किया है, इसलिए यह भारतीय संस्कृति का अत्यन्त मान्य और महनीय सिद्धान्त है।

वस्तुतः कारण-कार्य-नियम सृष्टि का सार्वभौम सिद्धान्त है और कर्म-सिद्धान्त इस कारणता-नियम पर ही प्रतिष्ठित है। तदनुसार यह सिद्धान्त नैतिक क्षेत्र में एक व्यवस्था सुस्थिर करता है कि प्रत्येक शुभ या अशुभ कर्म एक विशेष प्रकार का परिणाम उतपन्न करता है जिससे उस कर्म को करने वाला कभी मुक्त नहीं हो सकता। कर्म का यह परिणाम भी दो प्रकार का होता है-स्थूल रूप में सुख या दुःख तथा सूक्ष्म रूप में संस्कार या वासना। इनमें से सुख-दुःख तो भोग द्वारा ही नाश्य हैं किन्तु संस्कार अदृश्य रूप में जीवात्मा के साथ संसक्त रहते हैं और उसके आगामी जन्मों में सुख-दुःख का कारण बनते हैं। इस प्रकार जीवात्मा का वर्तमान जीवन उसके पूर्वकृत कर्मों का फल है, अतः कर्म ही प्रत्येक व्यक्ति की जीवन दशा का मूल कारण है। कर्मफल की दृष्टि से इन कर्मों के तीन भेद किये गये हैं-

(क) संचित (ख) प्रारब्ध (ग) क्रियमाण

इस जन्म के इस क्षण तक के किये हुए कर्म एवं जन्म-जन्मान्तरों के न भोगे गये कर्मों के समस्त संस्कार जो मनुष्य के अन्तःकरण में संचित होते हैं, उन्हें ही संचित कर्म कहा जाता है। संचित संस्कारों का जो अंश अपनी तीव्रता के कारण वर्तमान में फल देने के लिए प्रस्तुत होता है, उसे प्रारब्ध कर्म कहते हैं और वर्तमान समय में किये जाने वाले कर्म क्रियमाण कर्म कहे जाते हैं। क्रियमाण कर्मों के साथ मनुष्य का कर्तृत्वाभिमान, ममत्व, फलासक्ति, और वासनादि ही पुनः संचित कर्म का रूप ले लेते हैं। अतः प्रारब्ध कर्म के भोगायतन के रूप में वर्तमान जीवन का प्रावधान है। प्रारब्ध के भोग समाप्त हो जाने पर यह जीवन समाप्त हो जाता है किन्तु संचित कर्मों के भोग हेतु पुनः-पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ता है। जनम-मरण के इस चक्र से छुटकारा तब तक नहीं मिल सकता है जबतक इन संचित कर्मों का नाश न हो जाये और वह ज्ञान प्राप्ति द्वारा ही संभव है। इसीलिए कहा गया है-‘ऋते ज्ञानान् मुक्तिः’ अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती।

इसी से यह भी संकेतित होता है कि प्रत्येक जीव इस जन्म से पहले भी था और इस जन्म की समाप्ति पर भी होगा-जन्म और मरण का चक्र चलता रहता है किन्तु वह जीव या आत्मा सदा विद्यमान रहता है। अतः कर्म सिद्धान्त के साथ ही एक नित्य आत्मा की स्वीकृति एवं पुनर्जन्म की मान्यता भी स्वतःसिद्ध हो जाती है क्योंकि एक व्यक्ति के सभी कर्मों के फल अचानक या एक ही जीवन में तत्काल घटित नहीं हो सकते, जैसा कि कहा भी गया है-

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।

शनैरावर्त्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति।मनु. 4/172

अर्थात् अधर्म या दुष्कर्म अपना फल तुरन्त गाय के समान (जो घास खाने के तुरन्त बाद ही दूध दे देती है) नहीं उपस्थित करता, अपितु धीरे-धीरे अपने कर्त्ता के जड़ को ही काट डालता है। इस दृष्टि से कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त यह भी सुनिश्चित करता है कि अपने किये शुभ या अशुभ कर्म से कोई कभी, किसी प्रकार भी बच नहीं सकता-

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

यह एक प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध तथ्य है कि समग्र संसार एक व्यवस्थित रीति से चल रहा है और इसे देखकर यह मानना पड़ता है कि इसका नियामक कोई असाधारण शक्तिसम्पन्न, सर्वज्ञ, चेतन, ईश्वर ही हो सकता है। किन्तु प्रश्न उठता है कि यदि वह ईश्वर सर्वथा स्वतन्त्र, निरपेक्ष एवं न्यायकारी है तो विश्व में इतनी विषमता क्यों है? क्या वह ईश्वर मनमाने ढंग से जिसे चाहे सुख देता है और जिसे चाहे दुःख? या फिर वह भी किसी नियम के अधीन है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि ईश्वर जीवों के कर्मों का अधिष्ठाता है और उनके कर्मों के अनुसार ही शुभ-अशुभ का फल देता है, अतः वह भी कर्म की शक्ति से नियंत्रित है-

नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति।

अतः इसमें सन्देह नहीं कि कर्मसिद्धान्त के द्वारा ही वैयक्तिक वैषम्य की विश्वसनीय व्याख्या सम्भव है तथा ईश्वर की निष्पक्षता एवं न्यायप्रियता भी इसी के आधार पर सिद्ध की जा सकती है। इसे इस भाँति भी कहा जा सकता है कि कर्म-सिद्धान्त के अनुसार जगत् में एक नैतिक नियम कार्यरत है।

प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट का कथन है कि-

"Two things have inspired me most; the moral law within and the starry heaven above."

अर्थात् विश्व में दो तत्त्वों ने मुझे सर्वाधिक प्रेरित किया है-अन्तर्जगत् में नैतिक नियम तथा बहिर्जगत् में मेरे ऊपर टिमटिमाते तारों से भरा आकाश यानि भौतिक नियम।

भारतीय संस्कृति में यह नैतिक नियम और भौतिक नियम दोनों ही कर्म-सिद्धान्त में एकाकार हो गये हैं। इस सिद्धान्त ने शुभ एवं अशुभ, पुण्य एवं पाप, सुख एवं दुःख के मध्य एक कारणता स्थापित की है, नित्य आत्मा की सिद्धि एवं पुनर्जन्म की मान्यता हेतु आधारभूमि प्रस्तुत की है तथा ईश्वर की निष्पक्षता प्रतिष्ठित की है। इन सबसे बढ़कर इस सिद्धान्त ने मनुष्य को यह आशा का सम्बल प्रदान किया है कि इस जीवन से आगे भी जीवन है और दुःखसंकुल मानवता को अपने कष्ट सहने के लिए क्षमता प्रदान की है जैसा कि श्री अरविन्द ने

कहा है-

"It is evident that in one life we do not and cannot labour out and exhaust all the values and powers of that life, but only on a past thread, weave out something in the present, prepare infinitely more for the future."

इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त भारतीय संस्कृति की कतिपय मौलिक अवधारणाओं कारण-कार्य-वाद, नियत-आत्मवाद, पुनर्जन्मवाद, कृतकर्म-भोग तथा पुरुषार्थ या उद्यम के महत्व को रेखांकित करता है, साथ ही यह भी सुनिश्चित करता है कि मनुष्य का अतीत उसके वर्तमान का नियामक है तो वर्तमान उसके आगामी जीवन का निर्धारक है। इसलिए वर्तमान पर ध्यान देना ही मनुष्य के अधीन है तथा सर्वाधिक अनिवार्य है। इस दृष्टि से यह सिद्धान्त मानव जीवन में आशावाद का संचार करता है एवं तार्किक रीति से शुभ कर्मों के करने पर बल देता है तथा प्रत्येक को अपने कर्मों के प्रति उत्तरदायी बनाता है।

यहां पर यह भी उल्लेखनीय है कि कर्म-सिद्धान्त व्यक्ति-स्वातंत्र्य का निषेध कदापि नहीं करता। यद्यपि पूर्व जन्मों के किए गये कर्मों के फल मनुष्य के वर्तमान सुख-दुःख के नियामक हैं, तथापि इससे मनुष्य की स्वतंत्रता नष्ट नहीं होती। मनुष्य को अपने वर्तमान कर्म और भावी जन्म सुधारने की पूर्ण स्वतंत्रता है जैसा कि सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने लिखा है-

"The cards in the game of life are given to us. We do not select them. They are traced to our past Karmas, but we can call as we please, play what suits us, we gain or lose and that is freedom."

अतः भारतीय संस्कृति में कर्म-सिद्धान्त कोई यान्त्रिक नियम नहीं है, यह एक नैतिक एवं आध्यात्मिक मर्यादा है। भले ही कोई प्रयोगशाला में, परीक्षित साक्षात् सत्य न हो, इसे सर्वथा काल्पनिक कहकर छोड़ा भी नहीं जा सकता। इसलिए वैज्ञानिक दृष्टि से प्रमाणित न होने पर भी दार्शनिक, आनुभविक, नैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से यह नियम स्वीकार्य है, इसमें सन्देह नहीं। अन्त में भारतीय संस्कृति के उत्स 'वेद' की वाणी में यही प्रार्थना है कि हम 'कर्म' करते हुए ही सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करें (क्योंकि) इस प्रकार से (वाञ्छित) कर्म करते हुए व्यक्ति कर्म में लिप्त नहीं होता-

कुर्वन्नेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

यजुर्वेद, 40/2



भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्नता और संजीवनी शक्ति

- डा० महेशचन्द्र भारतीय

इकबाल की प्रसिद्ध पंक्तियां हैं-

यूनान मित्र रूमां सब मिट गये जहां से
अब तक मगर है बाकी नामों निशां हमारा॥
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी,
सदियों रहा है दुश्मन रश्के जहां हमारा॥

यह सच है कि संसार की अनेक विशाल, समृद्ध और शक्तिशाली संस्कृतियां-यूनान, मित्र और रोम की संस्कृतियां काल-कवलित हो गईं। चीन की संस्कृति भी अत्यंत प्राचीन काल से चली आती हुई आधुनिक साम्यवाद द्वारा ग्रस ली गई किन्तु भारतीय संस्कृति अनेक संकटों से जूझती हुई अभी तक जीवित है, आखिर वह कौन सी बात है कि हमारी हस्ती नहीं मिटती?

प्रकृति में हम प्रत्येक वस्तु को नश्वर प्राप्त करते हैं। किन्तु प्रकृति की जीवित एवं अजीवित वस्तुओं में एक अन्तर है। जीवित वस्तुओं में नित्य परिवर्तन के साथ एक सातत्य रहता है जिसके माध्यम से वह अपनी सत्ता बनाये रखती है। अजीवित वस्तु में हमें नित्य परिवर्तन दिखलाई नहीं पड़ता; वह जब परिवर्तित होती है या नष्ट होती है तो पूर्णतः समाप्त हो जाती है। जीवित प्राणी स्वयं नष्ट होने के बाद भी अपनी संतति द्वारा अपना सातत्य बनाये रखते हैं। लाखों वर्ष पुरानी मनुष्य जाति इसी प्रकार पुनरुत्पादन के द्वारा आज भी जीवित है। इस मनुष्य जाति में भी अनेक उपजातियां, अनेक परिवारिक परम्पराएं आज नष्ट हो चुकी हैं। इसका कारण किसी स्तर पर आकर पुनरुत्पादन की श्रृंखला का रुक जाना होता है। जहां पुनरुत्पादन की श्रृंखला बनी रहती है वहां किसी न किसी रूप में प्राचीनता नवीन होकर बनी रहती है।

यदि एक संस्कृति की तुलना हम जीवित प्राणी से करें तो हम देखेंगे कि संस्कृति का जीवन भी बहुत कुछ उस बात पर निर्भर करता है कि संस्कृति नित्य परिवर्तनशील होती हुई भी किस प्रकार अपने सातत्य को, अपनी निरन्तरता को बनाये

रख सकता है। अपने सातत्य को बनाये रखने में डार्विन का सर्वाधिक योग्य के बने रहने (Survival of the fittest) का सिद्धान्त भी काम करता है। जिस प्रकार प्राणियों की अनेक उपजातियाँ इसलिये समाप्त हो गई क्योंकि वे बदलते हुए वातावरण में अपने को ढाल नहीं सकीं या संघर्षमय जीवन के लिये पर्याप्त शक्ति नहीं जुटा पाई, इसी प्रकार अनेक संस्कृतियाँ भी इसीलिये समाप्त हो गई कि वे या तो बदलते हुए वातावरण के अनुसार ढल नहीं पाई या इतनी शक्ति नहीं जुटा पाई कि अन्य आक्रमणकारी शक्तियों का समुचित ढंग से सामना कर सके।

स्पष्टतः किसी जाति, उपजाति या प्राणी के बने रहने (Survival) के लिये उसकी उस शक्ति का अत्यधिक महत्त्व है जिसके द्वारा वह बाह्य वातावरण से अन्योन्यक्रिया (interact) करे। इस अन्योन्यक्रिया (interaction) में दो प्रकार का सामर्थ्य का होना प्रभावी सिद्ध होता है—एक तो इस प्रकार का लचीलापन जिसके द्वारा बाह्य प्रभावों को आसानी से सहन किया जा सके, दूसरे शब्दों में आघात-अवशोषण (Shock and absorbing) का सामर्थ्य और दूसरे बाह्य वातावरण को प्रभावित करने को सामर्थ्य। किसी संस्कृति के बने रहने (survival) के लिये भी इन सामर्थ्यों का होना आवश्यक है। इस प्रकार की सामर्थ्य प्राणियों में उनके बाह्य रूप से या भारी भरकम शरीर से नहीं आती अपितु आन्तरिक शक्ति से आती है। भारी भरकम शरीर से उल्टे उसके बने रहने में बाधक बन जाता है, डायनासोर आदि वन्य पशु इसीलिये नहीं बने रह सके क्योंकि शारीरिक दृष्टि से उनकी विशालता स्वयं उनके लिये बोझ बन गई थी, उस शरीर को बनाये रखने के लिये वे पर्याप्त साधन जुटाने में असमर्थ हो गये थे। कुछ इसी प्रकार की बात हम संस्कृति में भी देख सकते हैं। संस्कृति के भी दो रूप होते हैं—एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक। उसका रहन-सहन, उसकी सुख-सामग्री, उसकी भौतिक उन्नति उसका बाह्य रूप है। उसका चिन्तन, उसका दर्शन, उसका आन्तरिक रूप है। संस्कृति की निरन्तरता की प्राणशक्ति, उसकी संजीवनी, उसका यही आन्तरिक रूप होती है। बाह्य रूप के निरन्तर परिवर्तन के साथ उसकी पहचान को बनाने वाला भी यह आन्तरिक रूप होता है।

भारतीय संस्कृति को यदि हम इस सन्दर्भ में देखें तो हम उसकी संजीवनी शक्ति को स्पष्टतः पहचान सकते हैं। यद्यपि भारतीय संस्कृति का बाह्य रूप, उसका भौतिक रूप भी पर्याप्त सशक्त रहा है, किन्तु उसकी संजीवनी, उसकी प्राण-शक्ति उसका आन्तरिक रूप, उसका चिन्तन, उसका दर्शन रहा है। यह निर्विवाद सत्य है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति ने जो चिन्तन संसार को दिया है उसका जवाब नहीं है। भारतीय मनीषियों ने सत्य की खोज में अत्यन्त गहराई से डुबकी लगाई है और

अनमोल रत्न प्राप्त किये हैं। भारतीय चिन्तन में अनेक सम्प्रदाय हैं जो सिद्धान्तों की दृष्टि से नितान्त भिन्न और कभी-कभी तो पूर्ण विरोधी हैं। किन्तु उनका यह विरोध मात्र वैचारिक है उससे उनके हिन्दू या भारतीय होने में कोई अन्तर नहीं पड़ता। भारतीय दृष्टि से चिन्तन में उत्पन्न होने वाले विरोध स्वभाव में ऊपरी होते हैं—मनुष्य की तर्क-शक्ति की असमर्थता को द्योतक होते हैं। मनुष्य की तर्क-शक्ति से भी ऊपर एक चीज होती है, वह है अनुभूति। तर्क से ऊपर उठकर, अनुभूति के धरातल पर पहुँच कर, सार विरोध समाप्त हो जाते हैं। यही कारण कि आचार्य शंकर ने तर्क को सत्य पर पहुँचाने का साधन तो माना है किन्तु प्रमाण नहीं, उनकी दृष्टि से परम प्रमाण 'श्रुति' है जो अनुभूति पर आश्रित है। हमारे सभी दर्शनों ने, यहाँ तक कि बौद्ध और जैन जैसे नास्तिक दर्शनों ने भी जो योग को एक स्वर से स्वीकृति प्रदान की है, उसके पीछे भी यही भावना है। स्पष्टतः भारतीय संस्कृति ने आन्तरिक विरोधों का परिहार, विरोध में भी समन्वय, अपने आप ढूँढ लिया है। फलतः भारतीय संस्कृति के आन्तरिक विरोध भी उसको तोड़ नहीं सके। तर्क के धरातल से ऊपर उठकर अनुभूति के धरातल पर पहुँचना, यही वह चीज है जिसने भारतीय संस्कृति को उदारता प्रदान की है। उसने दिखाया कि विरोध तो प्रतीयमान होते हैं, केवल बाह्य होते हैं अन्ततः सत्य एक है—अविरोधी है। इसी भावना ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को पैदा किया, इसी ने भारतीय संस्कृति में लचीलापन और सहनशक्ति को पैदा किया। भारतीय संस्कृति की यही वह शक्ति है जिसके कारण बाहर से आने वाली अधिकांश जातियाँ भारतीय संस्कृति में घुल-मिल कर एकाकार हो गईं। शक, हूण और कुषाण आदि जातियाँ यहाँ आकर अपने अस्तित्व को खो बैठीं और भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग बन गईं। भारतीय संस्कृति अनेक आक्रमणों, अनेक अन्तर्विरोधों, अनेक बाधाओं के बावजूद, जो आज भी जीवित है उसके मूल में उसकी यही समन्वयात्मक शक्ति है, उसकी यही आघात-शोषक शक्ति (Shock-absorbing power) है।

हर प्राणी के जीवन में बाल्यावस्था, किशोरवस्था, यौवन, जरा और मृत्यु आदि अवस्थाएँ होती हैं। यौवनावस्था तक जीवन विकासशील होता है, उसके बाद जीवन की ढलान शुरू होती है और बुढ़ापा आता है। जीव-विज्ञानी बताते हैं कि शरीर में बुढ़ापे के आने का कारण है शरीर के सेलों का नष्ट होकर पुनः निर्माण की शक्ति का समाप्त होना। दूसरे शब्दों में उसकी नित्य-परिवर्तनशीलता में कमी आ जाना। नदी का पानी जब तक बहता रहता है ताजा रहता है, जब रुक जाता है तो सड़ने लगता है। शरीर के सेल भी यदि नित्य परिवर्तनशील नहीं रहते तो पुराने होकर शरीर में झुर्रियों आदि को जन्म देते हैं। यही स्थितियाँ संस्कृति में भी सम्भव हैं। यदि संस्कृति की

परिवर्तनशीलता शिथिल पड़ जाती है तो उसकी ताजगी, उसकी ऊर्जा समाप्त हो जाती है। संस्कृति की परिवर्तनशीलता की यह कमी आती है उसकी रूढ़िबद्धता या अन्धविश्वासों के कारण।

प्राणी अपनी मृत्यु के बाद भी जीवित रहता है अपनी सन्तान के माध्यम से सन्तान स्वयं उसका प भी है किन्तु उसमें किसी और का रूप भी रहता है। यह वास्तव में दो प्राणियों के मिलन से एक नये प्राणी का जन्म है। भारतीय संस्कृति को भी अब यदि जीवित रहना है तो वह अपने प्राचीन जर्जर शरीर से जीवित नहीं रही सकती। उसे अपना चोला बदलना पड़ेगा। पाश्चात्य संस्कृति का, उसके दर्शन का, चिन्तन-मनन का अदम्य प्रभाव भारत पर है। उसकी उपेक्षा करना भारत के लिये सम्भव नहीं है। भारतीय और पाश्चात्य संस्कृतियों के मेल से एक नई भारतीय संस्कृति का जन्म होगा जिसमें बचपन और यौवन की ताजगी होगी, नई ऊर्जा होगी, नई प्राणशक्ति होगी। पाश्चात्य चिन्तन के आक्रमण से भयभीत होने की हमें आवश्यकता नहीं। वह हमारी जड़ता का ही नाश करेगा। आवश्यकता वास्तव में है एक नई वैचारिक क्रान्ति की है जो हमें झकझोर के जगा दे, हमारी जड़ता को तोड़ दे, हमारी जड़ता को तोड़ दे, हमारी घुटन को समाप्त कर एक नये ताजे वातावरण को जन्म दे। यह पुरानी संस्कृति यदि एक नई संस्कृति को जन्म देती है तो वह स्वागत के योग्य है। आने वाली नई संस्कृति में हम अपने नये रूप को देखें-‘आत्मा वै जायते पुत्रः’ की भावना को सार्थक बनायें। भारतीय संस्कृति की संजीवनी शक्ति अब इसी ढंग से सुरक्षित रह सकती है।

सपने

एक आदमी ने एक सपना देखा, जब जागा तो अपने ज्योतिषी के पास जाकर सपने का अर्थ पूछा और तब ज्योतिषी ने कहा, “तुम जागते हुए जो सपने देखते हो वे मुझे बताओ तो मैं उनका अर्थ तुम्हें समझाऊंगा पर नींद में देखे सपने का सरोकार न मेरे ज्ञान से है न तुम्हारी कल्पना से।”

—खलील जिब्रान

भारतीय समाज में ‘अनेकता में एकता’

— रमेश प्रसून

विश्व पटल पर भारतवर्ष ही विविध वैविध्य एवं वैचित्र्य वाला एकमात्र ऐसा देश है जिसका अस्तित्व उसके बहुभंगिमायुक्त समाज की भिन्न-भिन्न भिन्नता में सन्निहित अभिन्नता से स्वतः परिपुष्ट है। अन्यथा संसार भर के अधिकांश देश अपनी सुमान्य क्षेत्रीयता, अपने विशेष भूगोल, अपनी अभिन्न सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवस्था, अपनी विशिष्ट भाषा-बोली, एवं रहन-सहन की एक रूप प्रथाओं, परम्पराओं के बल पर ही स्थापित होकर अपना अस्तित्व बनाये हुये हैं जबकि भारत देश ठीक उसके विपरीत स्थितियों में अपने भिन्न-भिन्न प्रकार के बहुघटकीय सांघटिक सामुच्चय के रूप में अपना अभिन्न अस्तित्व बनाये हुये है।

इस भिन्न-भिन्न भिन्नता के एवं अनेकता के परिप्रेक्ष्य में सम्पूर्ण भारतीय समाज की वैविध्य भरी स्थिति का अवलोकन किया जाये तो उसमें दिखलाई देने वाली भिन्नता के, या अनेकता के या अनेकरूपता के भिन्न-भिन्न कारण, कारक एवं उपादान स्वतः ही साक्षात् स्वरूप में उद्घाटित हो जाते हैं जो असहज-अस्वाभाविक कदाचित् नहीं बल्कि परिस्थिति जन्य एवं स्वाभाविक हैं। यह भी एक विशिष्ट विशिष्टता ही है कि इतनी भिन्नता भी उसकी अभिन्नता को प्रभावित नहीं कर पाती।

इन अनेक भिन्नताओं में प्रथम तो भौगोलिक भिन्नता ही है क्योंकि अकेले भारत का ही आकारीय क्षेत्रफल रूस को छोड़कर समस्त यूरोप के क्षेत्रफल के लगभग बराबर है, जो ब्रिटेन के क्षेत्रफल का लगभग बीस गुना है, जिसकी तीन चौथाई विशाल परिधि अरब महासागर, हिन्द महासागर एवं बंगाल की खाड़ी से घिरी हुई है तथा एक चौथाई परिधि हिमालय पर्वत की श्रंखलाओं से आबद्ध है। इसी कारण इसमें विभिन्न प्रकार की विविधता वाले आवासीय क्षेत्र यथा तल के, तट के, तलहटी के, तराई के, पहाड़ों के साथ-साथ मैदान, नदियों-जंगलों व बीहड़ों से युक्त एवं मुक्त कछारों के पठारों के तथा रेगिस्तानों के विकसित हैं जो अपनी-अपनी भौगोलिक भिन्नता एवं विशेषता के कारण अपने-अपने समाज की, संस्कृति की, बोलचाल, वेशभूषा व रहन-सहन की अलग पहचान बनाये हुये हैं। इनकी शारीरिक संरचना के स्वाभाविक अन्तर ने उनकी मानसिक एवं वैचारिक वृत्ति के साथ-साथ उनकी कार्य प्रणाली में भी भिन्नता उत्पन्न की है जो निश्चित रूप से आपत्ति जनक नहीं बल्कि सहज-सुग्राह्य है।

इस प्रकार क्षेत्रों की क्षेत्रवार भिन्नता उस क्षेत्र विशेष की प्रकृति-प्रदत्त जलवायु यथा हिमालय क्षेत्र की ठंडक, रेगिस्तान के अन्धड़, राजस्थान की शुष्कता, उष्णता, गर्मी, कोकण एवं कारोमण्डल तट की नमी-गर्मी, दक्षिणी पठारों की शुष्क आद्रता, असम-बंगाल की 200 से.मी. तक अतिवृष्टि-बाढ़ व कच्छ की अल्पतम वृष्टि आदि के रूप में उपस्थित हैं। इसके कारण-कारक एवं उपादान भी भिन्नता के परिवेश की सृष्टि वृद्धि करते हैं।

प्रजातियों की भिन्नता एवं प्रजातियों के अजायब घर के रूप में आरक्षित नीग्रिटों, प्रोटो-आस्ट्रेलायड, मंगोल, भूमध्य सागरीय, अल्पाइन, डिनारी, आर्मीनायड, नार्डिक आदि प्रजातियों के आगमन, सम्मलेन, प्रवर्तन, संकरण एवं मिश्रण ने, देहयष्टि, कद-काठी, शरीर-उत्पन्न किये हैं तथा उसी के कारण विभिन्न समाजों की, समूहों की समुदायों की, सम्प्रदायों की उत्पत्ति में शारीरिक एवं मानसिक भिन्नता दिखलाई देती है। इसी से प्रभावित होकर सुकृत या विकृत धार्मिक आचार-विचार व व्यवहार वैदिक धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म, सिखधर्म व पारसी धर्म आदि नामों से नामित होकर पूजा पद्धति एवं आध्यात्मिक मान्यताओं की भिन्नता के प्रतिरूप बन गये हैं।

इसी प्रकार ऐसे समाजों की विभिन्नता में प्रचलित भिन्न-भिन्न बोलियों से 1652 संघटित भाषायें प्रतिपादित हुईं जिनको मातृ भाषा कहा गया तथा 826 मातृ भाषाओं में वर्गीकृत किया गया जिनमें 103 अभारतीय भाषाओं का सम्मेलन भी सम्मिलित है। हिन्दी, तेलगु, बंगला, मराठी, तमिल, उर्दू, गुजराती, कन्नड़, मलयालम, बिहारी, उड़ीसा, राजस्थानी, पंजाबी, असामी, संस्थाली, भीली, काश्मीरी, गोंडी, सिंधी एवं बोली जाने वाली संस्कृत के दैनिक प्रयोग के प्रचलन की भिन्नता ने पूरे भारत देश को भिन्नता के जंगल में भटका दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि भिन्नता के पुष्ट करने का मुख्य कारण भी यह भाषा वैविध्य है लेकिन वास्तव में ऐसा है नहीं क्योंकि इन भाषा-बोलियों की सम्मिलित अनुगूँज एक ही है अनेक नहीं।

इन भिन्नताओं के अनेक रूपों के मध्य ही निश्चित रूप से अचम्भित कर देने वाला यह विचित्र सत्य भी प्रकटित है कि जिन भिन्नताओं के आधार पर इन्सान बंट जाते हैं, राष्ट्र टूट जाते हैं, संस्कृतियां बिखर जाती हैं, सभ्यतायें नष्ट हो जाती हैं तथा नये देशों का उदय हो जाता है, उन भिन्नताओं के बाहुल्य को अति सहज रूप से आत्मसात करने वाला राष्ट्र-राज्य भारत नकारात्मकता के स्थान पर सकारात्मक रूप से और अधिक सुदृढ़, और अधिक संगठित तथा और अधिक विकसित होता जा रहा है। इस सुखद परिणति के अन्तर्गत आती हैं स्थूल बाह्य सहयोगी स्थितियां। दूसरे कारण के अन्तर्गत आती हैं सूक्ष्म एवं आन्तरिक सहभागी स्थितियां।

यह इस राष्ट्र-राज्य की स्वसमन्वित सामन्जस्य की स्वव्यवस्थित सम्यक् स्थिति है कि जो-जो उपादान, कारण एवं कारक इसके बाह्य एवं स्थूल वैविध्य को भिन्नता अथवा अनेकता के रूप में प्रस्तुत करते हैं, ठीक वे-वे उपादान, कारण एवं कारक ही उसके इसी वैविध्य में अभिन्नता एवं एकता के मानदण्ड एवं मापदण्ड भी स्थापित करने में सहायक हैं।

मुख्यतः भौगोलिक भिन्नता में भौगोलिक एकता की आबद्धता की आवश्यकता आवश्यक रूप से सन्निहित है। समुद्र की विशाल उताल तरंगों एवं हिमालय की श्रृंखलाबद्ध रमणीक घटियों नदियों-झीलों एक वनों की सामरिक महत्व की परिधि के रूप में भारत के रूप स्वरूप को घेर लिया है। यदि इसका कोई अंग-कोई अंश अलग होकर स्वतन्त्र अस्तित्व चाहेगा भी तब भी उसका अस्तित्व सम्पूर्ण एवं एक भारत के अस्तित्व पर ही आश्रित रह सकता है, उस अंश या अंग का विलीनीकरण स्वतः ही इस भौगोलिक परिधि में रहना अनिवार्य व्यवस्था अथवा विवशता के रूप में बना रहेगा। जैसे नेपाल, श्रीलंका, बर्मा आदि की स्थिति को हम देख ही रहे हैं। पाकिस्तान एवं बंगलादेश ही हठधर्मिता उनको ही कितनी हानि पहुंचा रही है, यह तथ्य किसी से छुपा हुआ नहीं है।

मध्ययुगीन राजे-रजबाड़े व नबाबों के अधीन छोटे-छोटे राज्यों के बंटवारों के दुष्परिणाम मुगल-दासता एवं ब्रिटिश-दासता के दंश के रूप में हम झेल ही चुके हैं। वर्तमान में हम स्पष्ट रूप देख रहे हैं कि विधिवत् गणराज्य के रूप में स्थापित हो जाने के पश्चात् भाषा-बोली, वेशभूषा, संस्कृति-संस्कार, रीति-रिवाज, सामाजिक एवं भौगोलिक विशिष्टताओं वाली ईकाइयों को राज्यों में बांट-बांट कर इस देश का आन्तरिक, सांगठनिक एवं लोकतान्त्रिक राजनैतिक ढांचा सदैव सुदृढ़ रूप से एक जुट बने रहने की आवश्यकता का आह्वान करता है जो विश्व के समक्ष राष्ट्रीय एकता का अनुपम एवं अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये पर्याप्त है।

इस प्रकार भौगोलिक, ऐतिहासिक एवं राजनैतिक एकीकरण की अनिवार्यता ने भिन्न-भिन्न राज्यों की भिन्नता को जोड़कर सम्पूर्ण देश के भीतर भाषायी-धार्मिक, कला-कौशल, साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय संस्कारों की एक जुटता को, एक रूपता को, एक अभिन्नता को पालित-पोषित एवं विकसित किया है। जिसने राष्ट्रीय एकता की एक नवीन संस्कृति को जन्म दिया है तभी भारत के विभिन्न धर्मों में, भिन्न-भिन्न जातियों में एवं भिन्न-भिन्न समुदायों व सम्प्रदायों में बंटे हुये लोग अपनी-अपनी भाषा, अपने-अपने रहन-सहन, अपनी वेशभूषा, अपनी प्रथा-परम्परा, रीति-रिवाजों, लोक गीत, लोक गाथा, विवाह प्रणाली व जीवन संस्कारों का अपने तरीके से निर्वहन करते हुये भी वेद, पुराण, उपनिषद, गीता-रामायण, बाइबिल-कुरान व ग्रन्थ साहिब आदि में अन्तर्निहित मानवमूल्यों का संरक्षण एवं

कार्य संस्कृति

— डा० अजित गुप्ता

मानवीय संवेदनाओं का अनुकूलात्मक प्रतिपादन करने में किसी न किसी प्रकार लगे हुए हैं। संगीत-कला, नृत्य-नाटक के उद्घोषक स्वर कहीं सांस्कृतिक कार्यक्रमों के रूप तो कहीं कहानी-कविता के रूप में, कहीं दरबारी-कान्हड़ा, मियां मल्हार, धुपद, भजन-कलाम, गुरूवाणी के रूप में, कहीं ठप्पा-ठुमरी-ख्याल दादरा के रूपमें तो कहीं भरत नाट्यम, कथाकली, कल्थक, मणिपुरी आदि भंगिमाओं के रूप में तो कहीं वास्तुकला, मूर्तिकला व चित्रकला के रूप में अपना फिल्म एवं टी.वी. एपिसोड के विस्तार एवं प्रचार के रूप में कलात्मकता को उभारकर एकरूपता की अनुपम अभिव्यजना कर रहे हैं जिनमें राष्ट्रीय एकता की सन्निहित तीव्र एवं गूढ़ रूप में विद्यमान है। अतः वैयक्तिकता से ऊपर उठकर राष्ट्रीय संस्कारों से आपूरित अनुरजना की कलात्मक सार्वभौमिकता संवेदनात्मक आवेग के साथ राष्ट्रीय एकता को ही सम्पुष्ट करती है।

इसके अतिरिक्त अन्य अव्यक्त एवं सूक्ष्म कारण भी हैं जो भारतीय समाज में भिन्नता एवं अनेकता में अभिन्नता एवं एकरूपता के संवाहक हैं। आत्मीयता के आत्मबल की ऐसी प्रत्यक्ष या परोक्ष आध्यात्मिक संचेतना जो पूर्व से पश्चिम व मध्य देश होती हुई उत्तर से दक्षिण तक समस्त देशवासियों में अन्तर्निहित अनेकेश्वर अथवा एकेश्वर की सगुणी अथवा निर्गुणी सर्वव्यापक आत्म आस्था के नैसर्गिक एवं आत्मप्रदत्त स्वरूप की सहज भावनाओं की तरल तरंगों के साथ उद्दीप्त अनुभूतियों के संवेग में प्रवहमान होकर मानवीय सोच की एकात्मता को नित्य-निरन्तर बलवती करती रहती हैं जिनके उद्वेलन एवं आलोड़ना पर नित्य प्रभाव एक-एक्य, एकता-एकरूपता या अभिन्नता की अभिव्यक्ति पर पड़ता है अतः इस मूक एवं समग्रता से परिपूर्ण आत्माभिव्यक्ति की भूमिका किसी न किसी रूप में समूचे राष्ट्र को एकसूत्र में बांधे रखने में समर्थ रहती है। इससे अटूट एक्य भावना जाग्रत हो जाती है। तभी तो चीन जब आक्रमण करता है तब, पाकिस्तान विश्वासघात करता है तब, आतंकवाद सिर उठाता है तब, भ्रष्टाचार-अनाचार-अत्याचार बढ़ने लगता है तब, सम्पूर्ण भारत के एक-एक देशभक्त निवासी की सोच एक सी हो जाती है जिसकी प्रतिध्वनि इतनी तीव्रता से एकाग्र हो एकरूप में उठती है कि सारे विध्वंससात्मक षड्यंत्र स्वयं ही ध्वस्त हो जाते हैं।

अन्ततः भारतीय मानसिकता की स्थिति उस समुद्र की तरह हो जाती है जिसमें भिन्न-भिन्न नदियों की भिन्न-भिन्न धारायें मिलकर आत्मसात होती रहती हैं जिनकी अनेक तरंगों से निर्मित एक तरंगीय सागर सभी के प्रति समर्पित, समान एवं सम्यक भाव से साम्यता एकता-एकरूपता-अभिन्नता बांटने में तत्पर रहता है।

इस प्रकार समूचे भारतीय समाज के भिन्न-भिन्न अंगों में अनेक-अनेक अनेकता में एक-एक एकता के वास्तविक एवं व्यावहारिक स्वं-स्वरूप के दर्शन भली भाँति किये जा सकते हैं। □

जीवन जीने के लिए किए जा रहे संघर्ष का दूसरा नाम है कार्य। सृष्टि में प्रत्येक जीव कर्म प्रधान है और प्रकृति भी अहर्निश कार्यशील रहती है। शरद ऋतु प्रकृति को मौन तपस्वी-सा रूप प्रदान करती है, इस समय सारे ही जड़-चेतन मानों थम से जाते हैं, तभी मेनका सी नर्तन करती हुई प्रचण्ड वायु संचित पीत पातों को अपने साथ उड़ा ले जाती है। वृक्ष का यौवन फूट पड़ता है। नवीन कोपल इटलाती हुई मखमली अहसास करा देती है। चारों तरफ हरीतिमा छा जाती है। उपवन में बंसत खिल उठता है। भ्रमर गुंजन करने लगते हैं। पुष्प मकरंद लुटाने लगते हैं। मकरंद बिखरता देख भ्रमर सक्रिय हो जाते हैं। मधु का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है। प्रकृति ऊर्जा का संचय करने लगती है और सारा वातावरण उर्जामय हो जाता है। ऊर्जा का घर्षण होता है और अग्नि की चिंगारियां, लू के थपेड़ों में बदल जाती है। उष्णता पाकर फूल बिखर जाता है और दाना पक जाता है। जमीन फिर रिक्त हो जाती है। समुद्र वाष्प बनकर धवल परियों के समान उड़ता हुआ आकाश में समाने लगता है। पृथ्वी की आशाएं क्षितिज में एकत्र होने लगती हैं। ऋषि-मुनियों के हवन कुण्ड से निकले धुएं की तरह मेघदल पृथ्वी को सजल करने को आतुर हो उठते हैं। पृथ्वी ने जितना दिया था, उससे अधिक मेघ वापस लौटा देते हैं। पृथ्वी का कण-कण, बूंद-बूंद आशाओं से भर उठता है। धरती के अंदर तक आशाएं बीज बनकर अंकुरित होने लगती हैं। देखते ही देखते पृथ्वी लहलहा उठती है। प्रकृति फलती है, फूलती है और खुशियों के दाने हमारे आंगन में बिखेर देती है। जीवन में संतोष आने लगता है। शीतलता मन में बसने लगती है। सम्पूर्ण संतुष्टि के साथ प्रकृति हिम स्वरूप धारण कर लेती है और फिर मौन तपस्वी-सा स्वरूप निखर आता है। यही तो प्रकृति चक्र है, यही हमारा जीवन है।

प्रकृति हर पल गतिमान है, कार्यरत है। प्रकृति जब फूलती और फलती है तब केवल फूलती और फलती ही नहीं है, अपितु स्वयं को संस्कारित भी करती है। कार्य का श्रेष्ठ अवदान देती है। एक कार्य-पद्धति को जन्म देती हैं। मनुष्य को प्रेरणा देती है, कार्य-पद्धति के विकास से लेकर कार्य को संस्कृति में परिवर्तन करने की। प्रकृति कहती है कि हमारे लिए कार्य करना आवश्यकता नहीं अपितु कार्य करने की आदत बननी चाहिए। प्रकृति के पास आलस्य के लिए कोई स्थान नहीं है तो फिर हम मनुष्यों के पास आलस्य की बहुलता क्यों? एक किसान के द्वारा उगाई गयी फसल के समान

हमारा भाग्य होता है। जैसी खेती, जितनी खेती या जैसे कर्म, जितने कर्म, उतना भाग्य। फसल पकने की अवधि बीज रूपी कर्म के अधीन है। कोई फसल एक माह में परिपक्व हो जाती है, कोई तीन माह में और कोई वर्ष-दो वर्ष या इससे भी अधिक है। केक्टस में एक बार फूल आता है, गुलाब में प्रतिदिन। अतः कर्म के आधार पर भाग्य बनता है। लेकिन हम भाग्य के आधार पर कर्म करते हैं। या कर्म करना ही नहीं चाहते। जितना आवश्यक हो उतना कर्म करते हैं, उसे आदत नहीं बनाते। जब कर्म हमारे मन को सदैव प्रज्वलित करेगा तभी उसे हम संस्कृति का नाम दे पाएंगे। हम धरती पर आम की गुठली बो देते हैं और अगले ही क्षण आम्र की तमन्ना करने लगते हैं। कभी-कभी केवल एक ही दाना धरती पर फेंकते हैं और पूरी लहलहाती फसल की कामना करने लगते हैं। यह दोष हमें काल रात्रि के चांद के समान कर देता है। हम भाग्य को दोष देने लगते हैं। भारत में परिवार आधारित कार्य व्यवस्था होने के कारण हम कार्य का वितरण करते हैं। प्रकृति भी कार्य का वितरण करती है लेकिन प्रकृति का कोई भी अंग अपना कार्य दूसरे के ऊपर नहीं डालता। मेघ कभी नहीं कहते कि मेरी जगह सूर्य वर्षा कर देगा, या सूर्य कभी नहीं कहता कि मेरी जगह चांद, प्रकाश और तेज पृथ्वी को देगा। इसी प्रकार हम भी एक दूसरे से बंधे हुए होकर भी स्वतंत्र हैं, लेकिन हम अपने कार्य का निष्पादन स्वयं नहीं करके प्रायः दूसरों से करवाते हैं।

लेखक का कार्य होता है, समाज को आईना दिखाना, आईने के अनुरूप मार्ग बताना और मार्ग को अनुकूल बनाते हुए मंजिल प्राप्त करना अर्थात् श्रेष्ठ, सुसंस्कृत समाज एवं राष्ट्र का निर्माण करना। एक श्रेष्ठ विचारक, चिंतक ही समाज को प्रेरणा दे सकता है।

मेरी मान्यता है कि नवीन पीढ़ी जब जन्म लेती है तब अपने साथ पुरातन संस्कार भी लाती है। हमारी आत्मा शरीर त्यागते समय अपने साथ व्यक्ति के संस्कार लेकर जाती है। क्योंकि हम प्रत्येक जीवन में अपनी आत्मा को संस्कारित करने का कार्य करते हैं। एक बालक की जीवन यात्रा पुरातन से आगे बढ़ती है। वह वहीं से अपनी जीवन यात्रा प्रारम्भ करता है अर्थात् पुरातन को अपने में समेटे हुए, नवीनता की ओर प्रवृत्त होता है। अतः हमारी नवीन पीढ़ी को प्रेरणा देने के लिए सदैव नवीन विचारों की आवश्यकता होती है। इसलिए विचारकों एवं चिंतकों के लिए यह कार्य सदैव चुनौती पूर्ण रहता है। इसलिए जब भी कोई लेखक अपनी कलम उठाता है तब उसकी कलम से निकले एक-एक शब्द ऐसे विचार को जन्म दे जो विचार नवीन पीढ़ी ने कभी नहीं सुने हों। अतः लेखक तभी श्रेष्ठ लेखक घोषित होता है जब वह

नवीन पीढ़ीको प्रेरित कर सके। इसके लिए पुरातन एवं शाश्वत ज्ञान को, नवीन सोच और उपादेयता के साथ नवीन पीढ़ी के लिए उपलब्ध कराना होता है। यह तभी सम्भव हो पाता है जब हम निरन्तर कर्मशील बने रहें और कार्य को संस्कृति के रूप में अपने मस्तिष्क में धारण कर लें।

आज सफलता की बात बहुत जोर-शोर से कही जाती है, कौन सफल? एक प्रश्न है। सफलता का पैमाना क्या? दूसरा प्रश्न है। मेरी दृष्टि में सफल वह है जो विरोध से भरे तूणीर को बाण विहीन कर दे या अपने रास्तों को कण्टक विहीन बना दें। सफलता का पैमाना भी यही है कि आपका जीवन द्वेष विहीन हो जाए। यह सम्भव होता है निरन्तर कार्यशील रहने से और सकारात्मक सोच के साथ कार्य करने से। द्वेष रूपी बाधाएं आपके जीवन में प्रतिपल आएंगी, लेकिन आप अपने विवेक से उन्हें किस प्रकार निष्प्रभावी बना सकते हैं इसी में सफलता का रहस्य छिपा है। मेरे विचार से जो व्यक्ति श्रेष्ठ, कर्मशील और सकारात्मक चिंतन वाले व्यक्तियों को अपना मित्र बना लेता है, वह अपने जीवन में सफलता की सीढ़ियां चढ़ने में सफल होता है और जो व्यक्ति अकर्मण्य, नकारात्मक चिंतन से प्रभावित, चापलूस व्यक्तियों की निकटता चाहता है, वह असफलता की ओर अपने कदम बढ़ा लेता है। नवीन पीढ़ी का झुकाव आपकी तरफ है या नहीं, सफलता का पैमाना यही है। उद्देश्यहीन लिखना, उद्देश्यहीन बोलना या फिर उद्देश्यहीन कार्य करना कभी भी सफलता प्रदान नहीं करवाता। हम अक्सर स्वान्तः सुखाय लिखते हैं, स्वयं की रुचि को लक्ष्य बनाकर कार्य करते हैं लेकिन वह लेखन या वह कार्य समाज के लिए उपयोगी हैं या नहीं इस पर विचार नहीं करते। हमें अच्छा लग रहा है इसलिए कर रहे हैं, हमारे अंदर विचार कुण्ठा बनकर कुण्डली नहीं मार लें, इसलिए लिखते हैं या पुरस्कार के लिए लिखते हैं तब वह निरुद्देश्य भटकने के समान है।

आपको लेखन बहुत श्रेष्ठ है, लेकिन सामने से लक्ष्य भेद करता हुआ एक बाण आपके सामने चुनौती बनकर, आपके समक्ष प्रश्न खड़ा करने की हिम्मत कर देता है। सामने से निरन्तर प्रश्न बाण दनदनाते हुए चले आ रहे हैं, तब आप का लेखकीय विचार भीष्म पितामह की तरह शर-शय्या पर गिर पड़ता है। अर्जुन रूपी आपकी नवीन पीढ़ी आपसे पूछती है 'बता भीष्म पितामह तुम्हारे विचार को पानी पिलाऊं या सदैव के लिए मृत कर दूं।' अपने वचन से बंधे हुए भीष्म पितामह नवीन पीढ़ी को नवीन संदेश एवं नवीन चुनौतियों से लड़ने की प्रेरणा नहीं देते, परिणाम इच्छा मृत्यु का वरण। श्रीकृष्ण चुनौती को समझते हैं और अर्जुन का तेज जागृत करते हैं। युगों-युगों के लिए श्रीकृष्ण नवीन पीढ़ी के आदर्श बन जाते हैं। कृष्ण कहते हैं 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा

फलषु कदाचन'। हे अर्जुन तू केवल कर्म कर, फल की चिंता मत कर। क्योंकि कर्म करना व्यक्ति के अधीन है, लेकिन फल प्राप्त करना कर्म के अधीन है।

अतः लेखकीय एवं चिंतनीय कर्म क्या है, इसे समझने की आवश्यकता है। सभ्यता के संरक्षण के लिए पाण्डु रूपी मुट्ठी भर विचार पर्याप्त होते हैं, लेकिन इन विचारों का कौरव रूपी विशाल संहारक सेना से सामना होता है। विचार रूपी बाण दोनों तरफ से चलते हैं यह प्रक्रिया महाभारत तक ही सीमित नहीं रहती, प्रतिदिन चलती है। अनवरत चलती है। कर्म मार्ग पर सदैव तत्पर रहना पड़ता है।

किस बाण को काटने के लिए कौन सा बाण उपयोगी होगा इसका भी निरन्तर चिंतन करना पड़ता है। समाज कहीं भटक न जाए, सभ्यता कहीं नष्ट न हो जाए, इसके लिए अनवरत कार्य संस्कृति को अपने मनोमस्तिष्क में धारण करना पड़ता है।

वर्तमान काल में सीमाओं पर बीजा बंदी है, लेकिन विचार के आदान प्रदान के लिए इन्टरनेट पर पूर्ण स्वतंत्रता है। आज तक भारतीय आस्था के प्रतीकों पर हमला होता रहा, जिसे हम अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता रूपी ढाल से बचाते रहे। हमने प्रतिरोध में प्रबल बाण नहीं चलाए और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रेमी गांधी जी पर भी बाण चला बैठे। जब समाज का ध्येय केवल मनोरंजन ही हो तब पुष्पों को मसला तो जा सकता है, लेकिन उनसे मकरंद नहीं बनाया जा सकता। हमने पुष्पों को मसलने का अर्थात् सभ्यता को नष्ट करने का अभियान प्रारम्भ कर दिया है। मकरंद बनाने के लिए कार्य-संस्कृति की आवश्यकता होती है, जो कहीं न कहीं धूमिल होती जा रही है। आज आवश्यकता है ऐसे कार्य की जो ध्येयपरक हो, स्वार्थपरक न हो। मेडल के लिए नहीं अपितु मोडल बनकर कार्य करें। हमारा कार्य केवल मात्र श्रेष्ठ ही न हो अपितु प्रकाशमान पुंज की तरह हो जो समाज को राह दिखा सके। हम केवल कार्य ही न करें, अपितु कार्य संस्कृति को अपने अंदर धारण करें। हम कहते हैं कि हम श्रेष्ठ विचारक हैं, हम श्रेष्ठ इंजीनियर हैं, हम श्रेष्ठ लेखक हैं, हम श्रेष्ठ खिलाड़ी बनने की कुव्वत रखते हैं आदि आदि।

श्रेष्ठ विचार के लिए पढ़ने से अधिक चिंतन करना पड़ता है। जितना पढ़ो, उससे कहीं अधिक चिंतन करो। यही कारण है कि हमारे देश में विचारों की प्रचुरता है। ये केवल एक विचार से बंधे हुए नहीं हैं। हमारे पास प्रत्येक युग के लिए विचार हैं। या यूं कहें की इतने शाश्वत विचार हैं कि वे प्रत्येक युग के लिए समीचीन होते हैं। इसलिए ही हम दावे से कह देते हैं कि हम श्रेष्ठ विचारक हैं। लेकिन श्रेष्ठ विचारक होने मात्र से ही काम नहीं चलता, हमें अन्य विचारों को भी प्रभावित करना

आना चाहिए। आज सर्वत्र कहा जा रहा है कि पश्चिमी विचार हमारी नवीन पीढ़ी को प्रभावित कर रहे हैं। तब क्या हम ये मान लें कि हमारे विचार श्रेष्ठ नहीं हैं। हमारे विचार श्रेष्ठ हैं लेकिन हम उन्हें नवीन संदर्भों में अभिव्यक्त नहीं कर पा रहे हैं। हम नवीन पीढ़ी को उन विचारों से अवगत कराने का प्रयास ही नहीं कर रहे। विवेकानन्द ने शताब्दी पूर्व यह कार्य किया था, उन्होंने भारतीय विचार की श्रेष्ठता स्थापित की थी। अतः आज पुनः विवेकानन्द जैसे कार्य-संस्कृति की आवश्यकता है। कल तक विज्ञान में पिछड़े माने जाने वाले भारतीय इंजिनियर या वैज्ञानिक आज कैसे विश्व को चुनौती दे रहे हैं? उन्होंने एक कार्य-संस्कृति को जन्म दिया, इसलिए आज वे विश्व स्तर पर अपनी उपादेयता स्थापित कर पाए। सभ्यता के विकास का आधार विज्ञान होता है और कल तक भारत विज्ञान के क्षेत्र में पिछड़ा हुआ था। लेकिन आज अकेले कम्प्यूटर के क्षेत्र में ही भारतीय वैज्ञानिकों ने इतनी उन्नति की है कि हम तेजी से भौतिक उन्नति की ओर बढ़ रहे हैं।

नवीन पीढ़ी की ओर देखते हैं जब मन में संतोष उभरता है कि भारत में भी एक कार्य संस्कृति जन्म ले रही है। लेकिन अभी भी यह प्रतिशत बहुत न्यून है। हम प्रत्येक चीज को आसानी से पा लेना चाहते हैं, और यदि इच्छित वस्तु दुर्लभ होती है तब हम प्रयत्न ही छोड़ देते हैं। हम जीवन में न तो लक्ष्य लेकर चलते हैं और न ही उद्देश्य। प्रतिवर्ष नव वर्ष आता है, प्रत्येक व्यक्ति इसके स्वागत में रात-रात भर जगता भी है। प्रकृति प्रत्येक क्षण कार्य करती है, क्योंकि उसके स्वभाव में कार्य है। अतः हम भी अपने कार्य के प्रति जागरूक बने, साउद्देश्य बने। बसन्त आपके समक्ष सम्पूर्ण उल्लास के साथ उपस्थित हो गया है, आइए हम सब केवल कर्म करें, केवल कर्म। घड़ी-घड़ी फल की आकांक्षा न करें, बस कर्म करें, कर्म करें। □

भेंट की पुस्तक

जॉर्ज बर्नार्ड शॉ को एक दुकान पर अपनी पुस्तक 'पिगमेलियन' की एक पुरानी प्रति दिखाई दी जिसमें एक पूरे पृष्ठ पर उन्हीं की लिखावट में कुछ पंक्तियां लिखी हुई थीं। जार्ज शा उन पंक्तियों को देखते ही समझ गये कि उनके अमुक मित्र ने उनके द्वारा भेंट की गयी पुस्तक का यह उपयोग किया है। अपने मित्र को लज्जित करने के लिए उसके पास उसे खरीद कर फिर से उसे ही भेजने के विचार से उन्होंने दुकानदार से किताब की कीमत पूछी। दुकानदार ने पुस्तक को उलट-पलट कर देखने के बाद कहा-"यों तो इस पुस्तक के लिए आपको बारह शिलिंग देने पड़ते, पर किसी गधे ने इसका पूरा एक पृष्ठ ही रंग डाला है, अतः आप को मैं तीन शिलिंग में ही दे दूंगा।"

भारतीय संस्कृति में नारी-अस्मिता और नारी-संघर्ष

– आशारानी व्होरा

बात कहां से शुरू करें, यह अपने-आप में एक जटिल प्रश्न है। नारी के शौर्य, साहस, सहयोग, विद्रोह, लड़ाइयों और कुरबानियों की ये मिसालें तो प्रागैतिहासिक काल से लेकर पूरे इतिहास तक और वेदों से लेकर पुराणों, महाकाव्यों तक बिखरी-फैली हैं।

नारी के क्रांति-चरित्र और साहस-सहयोग की दृष्टि से देखें तो यह क्रम सृष्टि के आदि काल तक खिंच जायेगा, जब श्रद्धा झुकती है और इड़ा विद्रोह करती है। जब समुद्र-मंथन से श्रम-समृद्धि का प्रतीक लक्ष्मी जैसा नारी-रत्न प्राप्त होता है। जब हर संकट के समय बुद्धि विवेक की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती से सलाह ली जाती है। जब देवासुर-संग्राम में असुरों को परास्त करने के लिए देवताओं को भी नारी के दुर्गा रूप की जरूरत पड़ती है।

दुर्गा ही समय पर चंडी, काली, महाकाली बन, असुरों का वध करके देवताओं को उनकी स्वतंत्रता बहाल करती है। आदि नारी का यह महान् क्रांतिकारी और कल्याणी का संयुक्त रूप ही उसे मानवता के इतिहास में (विदेशी प्राचीन कालों में भी कोई न कोई ऐसी देवी उपस्थित है, भले ही उसका नाम, रूप दूसरा हो) देवता पुरुषों के भी ऊपर देवी मां, मां दुर्गा, महाशक्ति और महाकाली के रूप में प्रतिष्ठित कर गया।

देवासुर-संग्राम पुराण-कथा है। पुराणों का लेखन-काल वैदिक काल से बाद का है, जब समाज में अनेकानेक विसंगतियां आ चुकी थीं। लेकिन पौराणिक देवता शिव की उपस्थिति की पुष्टि प्रागैतिहासिक काल के प्राचीनतम उत्खननों से हो चुकी है-यानी वह पूर्व-वैदिक युग के देवता थे। वेदों में उल्लेख है कि 'महादेव' कहलाने वाले शिव भी महाकाली की उपासना करते थे। शायद इसीलिए आदिकाल से लेकर आज तक नारी के इस शक्ति रूप की उपासना होती आयी है। ऐसी मातृ-शक्ति, जो शांतिकाल में ममतामय, त्यागमय है तो आपातकाल में रक्षक और संहारक भी।

रामायण और महाभारत के नारी-पात्र

कारण दुर्वासा का शाप रहा हो या दुष्यंत का समाजभय, परित्यक्ता शकुंतला ने जिस तरह कण्व-आश्रम में न लौट, जंगल में शेरों के बीच अकेले रहना पसंद किया और शेरों की गुफा में अपने शिशु भरत को जन्म दिया, वह क्या कम साहस था? और फिर भरत को सिंह-शावकों के साथ खेलते हुए पालकर, उसे धनुर्विद्या के अचूक निशाने स्वयं सिखाकर जिस तरह दुष्यंत से लड़ने को तैयार किया, वह क्या शकुन्तला के भीतर की नारी के अपमान का बदला या तत्कालीन व्यवस्था से विद्रोह नहीं था? हां, यह विद्रोह था-अपनी शक्ति के (घृणा के नहीं) प्रदर्शन वाला-रचनात्मक विद्रोह। इसकी तुलना लव-कुश को धर्म, शौर्य, रण-कौशल में राम से बढ़कर तैयार करने के बाद उन्हें राम के समकक्ष खड़ा करने वाली सीता के कृत्य से ही की जा सकती है।

राम और सीता के बीच दोनों ओर प्रेम की विह्वलता, विरह की व्याकुलता समान रहते हुए भी राम की चाहता जब सीता को, लव-कुश सहित, अपनाने को तैयार होती है, सीता इस प्रस्ताव को ठुकराकर धरती में समा जाती है। यहां शकुंतला का साहस सीता से अधिक रहा हो कि उसने जो काम अकेले किया, सीता ने ऋषि वाल्मीकि की मदद से, लेकिन बाद का सीता का विद्रोह सीता को शकुंतला से ऊपर उठा जाता है। पर इसे दोनों की अलग परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही देखा जाना चाहिए। शकुंतला को शैशव से जंगल का आश्रय-परिवेश मिला, सीता को बाद में और सीता के बाद के व्यक्तित्व-निर्माण में विद्वान् ऋषि वाल्मीकि का भी हाथ रहा, जो नारी-स्वतंत्रता के पक्षपाती थे।

जो हो, इन दोनों कथाओं में विद्रोह का स्वरूप रचनात्मक था, ध्वंसात्मक नहीं-मातृशक्ति का ऐसा अभूतपूर्व प्रदर्शन कि पुरुष जीतकर भी हार जाये और नारी हारकर भी जीतती हुई युगों-युगों तक अविस्मरणीय बन जन-मन में अवस्थित हो जाये।

पर कैकेयी के विद्रोह को सीधे-सीधे महत्वाकांक्षा से प्रेरित स्त्री-अधिकार की लड़ाई कहा जा सकता है। कुछ व्याख्याकार कैकेयी के कृत्य को उसके द्वारा राम को दुष्ट-दमन के एि बनवास भेज, धर्म-रक्षा व जनहित में जान-बूझकर बुराई मोल लेने से जोड़ते हैं और इस तरह कैकेयी को निर्दोष ठहराने का प्रयत्न करते हैं। पर कैकेयी जैसी बुद्धिमती, रण-कुशल, वीर और स्वतंत्रचेता नारी युद्ध-स्थल पर दो बार पति की जान बचाने के एवज में दो वरदान मांगकर भी यदि उनका उपयोग भविष्य के किसी उचित समय के लिए सुरक्षित रख सकती है, तो समय पर अपने अधिकार के लिए उनका प्रयोग करने से भी कैसे चूक सकती है? वाल्मीकि ने उसके चरित्र

के साथ कुछ न्याय किया हो, तुलसीदास ने अन्याय, इस बहस से अलग हटकर यहां हमें उसके चरित्र को केवल इस घटना के साथ ही न जोड़कर उसके पूरे व्यक्तित्व के परिप्रेक्ष्य में ही देखना-समझना चाहिए।

गांधारी, कुंती, द्रौपदी का अपमान महाभारत जैसे महायुद्ध का कारण बना, यह तो ज्ञात तथ्य है। पर इन सशक्त नारी-चरित्रों के मूक व मुखर विद्रोह की अभी बहुत कम व्याख्या हो पायी है। कथाकार रामकुमार भ्रमर ने तत्कालीन स्थितियों का अध्ययन करके सिद्ध किया है कि उस समय की सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार, दिखावा चाहे कुछ भी रहा हो, गांधारी ने पतिव्रत धर्म-पालन के लिए ही अपनी आंखों पर पट्टी नहीं बांधी थी। जानते-बूझते हुए भी अभिभावकों द्वारा उसे अंधे धृतराष्ट्र के साथ बांध दिये जाने के कारण यह उसकी मनोग्रंथि से मनोरोग तक ले जाने वाली उग्र आत्मघाती प्रतिक्रिया थी। कुंती के पुत्रों के खिलाफ अपने बेटों का प्रशिक्षण और अपनी सुरक्षा या अपने हर षड्यंत्र के लिए अपने भाई शकुनि को साथ रखना उसी योजना के अंग थे। यही नहीं, महाभारत-युद्ध के बाद उसने श्रीकृष्ण का क्रुद्ध होकर उन्हें शाप दे दिया, 'कुरु-कुल की तरह यदु-वंश का भी नाश हो। वे स्त्रियां भी इसी तरह रोयें और वैधव्य का दुःख झेलें। फिर भी सतीत्व-बल या आजीवन साधना से कमाया तेज इतना कि एक बार आंखों की पट्टी खोलकर जिसे देखें, उसका शरीर वज्र सा अवध्य हो जाये-श्रीकृष्ण की चतुर सलाह पर दुर्योधन ने जहां लंगोट धारण किया, उसी स्थल पर भीम की गदा भी मार खाकर वह धराशायी हुआ था, अन्यथा अविजित होता।

शापग्रस्त पांडु की विदुषी पत्नी कुंती ने सभी पुत्र देवताओं का आवाहन करके पैदा किये। सूर्य-पुत्र कर्ण को कौमार्य की संतान होने के कारण वहाँ अपना नहीं सकी। पर महाभारत-युद्ध के दौरान साहस करके वह कर्ण के सम्मुख जा उपस्थित हुई, उसे अपना परिचय दिया और उससे अपने सगे भाइयों-पांडवों को न मारने का वचन लेना चाहा। कर्ण ने इसे स्वीकार नहीं किया क्योंकि दुर्योधन का साथ देना उसका धर्म था। कुंती दुखी होकर लौट आयी थी। फिर भी युद्ध के बाद जब युधिष्ठिर अपने मृत बंधु-बंधवों को जलांजलि देने लगे तो उससे रहा नहीं गया। बोली, 'बेटा, कर्ण को भी जलांजलि दो।' युधिष्ठिर ने धर्मराज कहलाते हुए भी उत्तर दिया, 'मां, वह सूत-पुत्र हमेशा हमसे द्वेष रखता था, हम उसे जल नहीं देंगे।' तब कुंती को स्पष्ट कहना पड़ा, 'तुम नहीं जानते युधिष्ठिर, वे महाभाग तुम्हारे ज्येष्ठ भ्राता थे।' इस तरह अंत में ही सही, संकोच छोड़, साहस करके कुंती ने अपने बेटों को अपने कौमार्य-पुत्र कर्ण का परिचय दे दिया और युधिष्ठिर से उसे जलांजलि दिलवायी। जब पांडव वनवास में थे और कुंती विदुर के घर, तब भी उसने संजय-विदुला की दृष्टांत कथा सुनाकर

श्रीकृष्ण के हाथ पांडवों को संदेश भिजवाया था कि वे वन-वन भटकने के बजाय शीघ्र ही कौरवों का नाश कर अपना पितृ-राज्य प्राप्त करें।

पांडवों को हमेशा वीरता का पाठ पढ़ाने वाली और अपने अधिकारों के लिए उन्हें कौरवों के विरुद्ध खड़ा करने वाली यह नारी गृहस्थ जीवन में इतनी धर्मपरायण और सेवाभावी थी कि स्वयं गांधारी के निर्देशन में रहकर उनकी सेवा करती रही, अंत में धृतराष्ट्र के संरक्षण में गांधारी के साथ ही वन-गमन किया और वहीं उनके साथ दावाग्नि में शरीर छोड़ा।

द्रौपदी का चरित्र कुंती से भी सशक्त है। जब युधिष्ठिर द्वारा उसे जुएं के दांव पर लगा दिया गया तो सभा में बुलाये जाने पर उसकी पहली प्रतिक्रिया थी, 'दुशासन, तुम बताओ मुझे, धर्मराज ने पहले अपने को दांव पर हारा या मुझे ? स्वयं हार जाने के बाद मुझे दांव पर लगाने का उन्हें क्या अधिकार था?' फिर दुःखासन द्वारा जबरदस्ती खींचकर सभा में लाये जाने के बाद भी उसने जबरदस्त विरोध किया। अपने पतियों को कापुरुष कहकर उनकी खूब भर्त्सना की, सभा में उपस्थित बुजुर्गों को भी इस शर्मनाक कृत्य का तमाशा देखने के लिए खरी-खोटी सुनायी और अंत में विवश होकर अपने सखा श्रीकृष्ण की सहायता से अपनी लाज बचायी।

जीत का प्रमाण लाज बचाना ही नहीं, यह भी कि अपने पुत्रों के दुष्कर्म व द्रौपदी के विद्रोह का सारा हाल विदुर से सुनकर दुखी धृतराष्ट्र ने द्रौपदी को प्रेम से अपने पास बुलाया और उससे अपने पुत्रों के अपराध की क्षमा मांगी। प्रायश्चित्त स्वरूप पांडवों को बुलाकर उनका हारा हुआ राज्य और धन लौटाया तथा द्रौपदी को इस दासत्व से मुक्त करा दिया। पर पांडवों की कमजोरी और द्रौपदी का दुर्भाग्य कि युधिष्ठिर ने दुर्योधन द्वारा उकसाये जाने पर एक बाजी और खेती और हार जाने पर पत्नी सहित बारह वर्ष वनवास के साथ अंतिम वर्ष अज्ञातवास की कठोर शर्त अपने सिर ले ली। यहां इस वनवास और अज्ञातवास के विवरण में जाने की गुंजाइश नहीं। इतना ही कि जब श्रीकृष्ण वनवास का समाचार सुनकर पांडवों से मिलने गये तो द्रौपदी ने फिर एक बार अपनी शक्ति का परिचय दे, उनसे कौरवों के नाश का वचन ले लिया, 'मैं महापराक्रमी पांडवों की पत्नी, सेनापति धृष्टद्युम्न की बहन और आपकी सखी हूं। क्या मेरे अपमान का बदला आप नहीं लेंगे?' श्रीकृष्ण द्रौपदी को वचन देकर ही द्वारका लौटे। श्रीकृष्ण-पांडवों की इस भेंट के समय सत्यभामा-द्रौपदी संवाद से भी द्रौपदी के बहुआयामी गुणी चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। जब सत्यभामा ने उनसे पूछा कि वह एक साथ पांच पतियों को कैसे इतना प्रसन्न रख पाती हैं कि इनमें से कभी किसी एक के भी रुष्ट होने का समाचार नहीं मिला? तब द्रौपदी का उत्तर

था 'पतियों को तंत्र-मंत्र आदि से वश में करना दुराचारिणी स्त्रियों का काम है। मैं अहंकार, क्रोध छोड़कर सेवार्त रहती हूँ। कभी कटु भाषण नहीं करती। असभ्यता से खड़ी नहीं होती। पतियों के दोष नहीं गिनाती। उनकी दूसरी पत्नियों से ईर्ष्या नहीं करती। उनके प्रति निष्ठावान हूँ। उनकी बुराई नहीं सुनती। दुष्ट स्त्रियों के संग-साथ नहीं करती। स्वयं साफ-सुथरी, सजी-धजी रहकर घर साफ-स्वच्छ रखती हूँ। पतियों की गलती या अन्याय पर क्रोध करती हूँ, पर कोई गलत मंत्रणा उन्हें नहीं देती। वीर माता सास का सम्मान करती हूँ। उनके ऊंचे आसन पर नहीं बैठती। उनके बताये कौटुंबिक धर्म का पालन करती हूँ। मनीषियों और अतिथियों का सत्कार करती हूँ। श्राद्ध, त्यौहार, नित्यनेम में पारिवारिक परंपरा का पालन करती हूँ। गृह-प्रबंध में भी कार्यकुशल हूँ-आय-व्यय का सारा हिसाब रखती हूँ। घोड़ों, गायों की देखभाल तक मेरे जिम्मे है।' सुनकर सत्यभामा दंग रह गयी और उन्होंने अपने इस प्रश्न के लिए उनसे क्षमा मांगी।

कथाकार 'भ्रमर' ने भी अपने इस कथा-खंड में द्रौपदी के गुणों और सशक्त चरित्र की भरपूर प्रशंसा करते हुए उन्हें अत्यंत सुंदरी, यौगिक शक्ति से संपन्न, शक्तिशाली, परिपक्व मानसिकता वाली, बुद्धिमती, त्यागमयी, आस्थामयी, समय पर विद्रोहिणी भी, यानी सर्वगुणसंपन्न नारी की संज्ञा दी है और पांचों पांडवों की अलग-अलग कमियां गिनाते हुए पांचों को मिलाकर एक पूर्ण पुरुष बनाया है।

महाभारत-कथा के अंत में जब पांडव पंद्रह वर्ष राज्य करने के बाद ही वन-गमन की योजना बनाने लगे तो द्रौपदी का आक्रोश फिर फूटा, 'आपने अन्याय से राज्य नहीं पाया, धर्म-युद्ध में शत्रु-दमन करके जीता है। फिर दायित्व से मुंह मोड़कर वन-गमन क्यों?' पर इसके बावजूद, जब पांडवों ने वन-गमन का निर्णय ले लिया तो द्रौपदी उनका साथ देने से पीछे नहीं हटी। उस युग की नारी का रचनात्मक विद्रोह ! जहां तक एक साथ पांच पांडवों के विवाह के बात है, इसे समाजशास्त्री उस युग की स्थान-विशेष की एक प्रथा मानते हैं, जिसकी परंपरा आज भी गढ़वाल के जौनसार बाबर क्षेत्र में पायी जाती है।

महाभारत-कथा में द्रौपदी का चरित्र यदि सर्वाधिक गुणी और सशक्त नारी के रूप में उभरा है तो विवाह के लिए अपहरण करके लायी गयीं अंबा, अम्बिका, अंबालिका नाम की तीनों बहनों में से अंबा का चरित्र सर्वाधिक विद्रोहिणी के रूप में, जो अपने अपमान का बदला लेने के लिए लंबी, कष्टपूर्ण तपस्या से गुजरकर 'शिखंडी' के रूप में सामने आती है। नागकन्या उलूपी और मणिपुर की राजकुमारी चित्रांगदा के विद्रोह भी उल्लेखनीय हैं। इन सबके सामने कच-देवयानी और ययाति-

शर्मिष्ठा के कथा-प्रसंग में देवयानी व शर्मिष्ठा के विद्रोह एकदम निजी धरातल पर खड़े हलके विद्रोह जान पड़ते हैं।

यों नारी-स्वतंत्रता का हरण करने वाले अपने अंधे पति को पुत्रों द्वारा उठवा कर गंगा में फिंकवा देने वाली प्रद्वेषी जैसे नारी-चरित्र भी हैं महाभारत में, पर महाभारत के उद्योग-पर्व में जो गालव और माधवी की कथा आती है, उसका केन्द्रित चरित्र माधवी सर्वाधिक शोषित है। उसके पिता अपने यश और शौर्य की रक्षा के लिए उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध गालव को सौंप देते हैं और गालव अपनी प्रतिज्ञा-पूर्ति के लिए उसे एक के बाद एक तीन राजाओं को सौंपता है। माधवी को बार-बार अपनी विवशता का बोध होता है। बार-बार अपनी ममता को मारना पड़ता है। फिर भी अंत में उसका जो विद्रोही रूप सामने आता है, उसे स्वाभाविक प्रतिक्रिया ही कहा जा सकता है। प्रसिद्ध कथाकार भीष्म साहनी ने अपने नाटक 'माधवी' में उसके विद्रोह को इस प्रकार वाणी दी है, 'पिता ने मुझे सौंपकर अपना कर्तव्य निभा दिया। मुनि कुमार ने घोड़े बटोरकर प्रतिज्ञा-मूर्ति कर दी। एक दानवीर बन गया, दूसरा आदर्श शिष्य। पर माधवी? उसकी चिंता किसे है?'-यह कटुता और व्यंग्य, जो उसे उसकी परिस्थितियों ने दिया, एकदम निजी नहीं, समूची स्त्री जाति के दर्द से उपजा लगता है। जब उसे पता चला कि गालव भी उसका नहीं, उसके रूप-यौवन का ही प्रेमी है, तब उसका मोह भंग हो गया, 'नारी के लिए शरीर से अधिक मन का महत्त्व है, पुरुष के लिए मन से अधिक शरीर का' और वह विद्रोह करके पुरुषों की इस दुनियां से भाग खड़ी होती है। यही है, माधवी के माध्यम से नारी के शोषण और उसके विद्रोह की कहानी।

प्राचीन व मध्यकालीन अन्य उदाहरण

इस काल में ही क्यों, इसके पूर्व वैदिक काल में भी जब मातृसत्तात्मक परिवारों की जगह पितृसत्तात्मक परिवार स्थापित हो गये, तो नारी को ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्मवादनियां बनने, देर से विवाह करने, आजन्म कुमारी रहने तक के अधिकार भले ही प्राप्त रहे हों, उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हें ऋषियों को सौंपे जाने की परंपरा वहां भी दिखायी देती है। तदनुसार ही उनके विद्रोह के अलग-अलग स्वरूप भी।

लोपामुद्रा एक अतिसुंदर प्रतिभा-संपन्न राजकुमारी थी, जिसे पिता ने अच्छी सांस्कृतिक शिक्षा-दीक्षा से व्यक्तित्व-संपन्न भी बनाया था। माता-पिता को अपनी इस सुयोग्य पुत्री पर गर्व था। कई समर्थ राजकुमार उससे विवाह करने के इच्छुक थे। पर जब उसका यश ऋषि अगस्त्य तक पहुंचा, तो उन्होंने पुत्र-विहीन रहकर नर्क में जाने का सपना देखने की बात करके लोपामुद्रा को अपने लिए मांग लिया। राजा स्तंभित

रह गये। ऋषि के सम्मान और उनके शाप के भय से एकदम हां-ना न कह वह दुविधा में पड़ गये। तब अपनी विदुषी, किन्तु विनम्र व सेवाभावी पुत्री की राय लेने पर उन्हें आशानुकूल उत्तर मिला, 'आप चिंता न करें। मेरा बलिदान करके स्वयं को व राज्य को बचा लें। अगस्त्य जैसे ऋषि के सान्निध्य में रहकर मेरा जीवन उन्नत व समृद्ध ही होगा।'

विवाह हो गया। लोपामुद्रा अपने ऋषि-पति की इच्छानुसार राजकीय वस्त्राभूषण त्यागकर उनकी कुटिया में साध्वी बनकर रहने लगी। न पिता के घर से कुछ लिया, न इकलौती पुत्री होने पर भी राज्य का उत्तराधिकार चाहा। ऋषिका की वेशभूषा में ही वह बहुत सुंदर व गरिमामय लगती थी। पति-सेवा से बचे समय में घंटों तपस्या में लीन रहकर, अध्ययन-मनन में समय बिताकर उसका व्यक्तित्व और भी समृद्ध हो गया। और वह वेद-ऋचाएं रचने वाली 'ऋषिका' कहलायी।

पर इसके बाद जब ऋषि के मन में पुत्रेच्छा प्रबल हुई और उनका सांसारिक जीवन में प्रवेश जरूरी हो गया, तब लोपामुद्रा, उससे सहमत होते हुए भी, विद्रोह कर उठी, इस तापसी वेष में मुझसे यह नहीं होगा। इसके लिए वैसे वस्त्राभूषण, सुख-साधन और पुष्प-शय्या भी चाहिए।' ऋषि लोपामुद्रा के इस प्रस्ताव से चकित-स्तब्ध रह गये। फिर भी उन्होंने क्रोध नहीं किया, केवल अपनी असमर्थता प्रकट की। लोपामुद्रा ने कहा, 'अपनी शक्तियों का प्रयोग करो।' ऋषि बोले 'यह संभव है, पर मैं अपनी सिद्धियों का अनुचित प्रयोग नहीं करूंगा।' तब परस्पर सहमति से मध्य मार्ग अपनाया गया। शेष मांगें छोड़कर वातावरण-निर्माण के लिए पुष्प-शय्या आवश्यक मान, लोपामुद्रा की इच्छापूर्ति की गयी और 'लाखों में एक' सुपुत्र पैदा हुआ, जो बड़ा होकर प्रसिद्ध कवि हुआ।

ऋग्वेद में 8 से 91 तक मंत्र ब्रह्मवादिनी अपाला के लिखे हुए हैं। फिर भी जैसा कि उस काल का चलन था, उसकी पूरी जीवनी नहीं मिलती। किंवदंती और इतिहास मिश्रित जो तथ्य बिखरे मिले हैं, उनके अनुसार, अपाला ऋषि की पुत्री थी। अपाला भाग्य की धनी नहीं, कोढ़ जैसे त्वचा-रोग से ग्रस्त थी। इसलिए पति द्वारा उपेक्षित हो, ऋषि-आश्रम में रहकर ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करते हुए ब्रह्मवादिनी बनी। कथानुसार अपाला इंद्र की उपासना करके रोग-मुक्त हुई थी। रोज पानी भरने जाती तो इंद्र का प्रिय सोम पौधा उखाड़ लाती। रास्ते में उसे दांतों से चबाती और रस निकालती-इंद्र के लिए। जिस दिन इंद्र ने अपाला के अधरों से लगे सोमरस का पान किया, उसे तीन वरदान दिये। इनमें से एक वरदान से उसकी त्वचा रोग मुक्त हो गयी। अपाला लिखे मंत्रों में भी इंद्र का प्रशस्ति गान है।

इस घटना और प्रशस्ति मंत्रों को मिलाकर अर्थ निकाला जा सकता है कि पति से उपेक्षित होने के बाद विदुषी अपाला ने इंद्र से प्रेम किया और इंद्र द्वारा अपनाये जाने पर उसने स्वयं को रोग-मुक्त पाया।

वैदिक काल की ब्रह्मवादिनियों में से सर्वाधिक लेखन घोषा का मिलता है, अपाला से भी अधिक। चौदह-चौदह मंत्रों वाली उसकी दो लंबी कविताएं भी हैं। ऋषि दीर्घतमा की पौत्री और ऋषि काक्षावत् की पुत्री घोषा को भी सफेद कोढ़ था। इस कारण उसका विवाह नहीं हो सका। वह पिता से घर ही बूढ़ी हुई। लेकिन कथानुसार उसके लिखे मंत्रों से प्रभावित होकर अश्विनीकुमारों ने उसे रोग-मुक्त कर दिया था और उसने भी अश्विनीकुमारों की प्रशस्ति में कुछ मंत्र लिखे थे। घोषा की दो लंबी कविताओं में से प्रथम में अंधता, कोढ़, बीमारी, दुर्बलता से मुक्ति पाने के लिए अश्विनीकुमारों की महान् शक्ति की प्रशस्ति है। दूसरी में व्यक्तिगत भावनाओं इच्छाओं की अभिव्यक्ति और वैवाहिक जीवन की आनंदमय कल्पना, 'मेरे भीतर नारी का जन्म हो गया है। उसे आने दो। इच्छाओं की सहेली से मिलने दो। उसके लिए बेलों को फेंलने दो। नदी-नालों को बहने दो। उसे ऐसे पति, जो किसी से जीता न जा सके, के संसर्ग का अधिकार प्राप्त करने दो। ऐसे पुरुष, जो जीवन को जीने योग्य बनाते हैं, पत्नियों के लिए त्याग करने को तत्पर रहते हैं, उन्हें अपने वक्ष में देर तक कैद रखने में समर्थ हैं और पिता बनने में गौरव का अनुभव करते हैं, पत्नियां उन्हीं की भुजाओं में सुख पाती हैं। हम (आजीवन कुमारियां) इस आनंद को नहीं जानतीं, पर अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकती हैं। जो अश्विनी, मैं ऐसे पति के घर जाना चाहती हूं, जो पुरुषोचित, समर्थ और समर्पित हो।'

यहां भी कविता के भावार्थ और अश्विनीकुमारों द्वारा घोषा की 'रोग-मुक्ति' के बीच संबंध स्पष्ट है।

उपनिषद्-काल में गार्गी और मैत्रेयी की महान्ता का उल्लेख है। इनमें गार्गी अधिक प्रखर विदुषी नारी के रूप में उभरी है। ऋषि याज्ञवल्क्य से समानता के स्तर पर शास्त्रार्थ करना, मनुष्य के अस्तित्व, सृष्टि की उत्पत्ति आदि पर चर्चा कर देने वाले प्रश्न पूछना और तब तक पूछते जाना, जब तक कि याज्ञवल्क्य ने टोक न दिया, 'गार्गी, बस। अधिक मत पूछो एक साथ, नहीं तो तुम्हारा सिर थककर गिर पड़ेगा। सच्चे रूप में देवी गुणों से संबंधित रहने के लिए अधिक तर्क-विकर्त ठीक नहीं होता।' इस तरह एक बार तो उसे चुप करा दिया गया। पर अगली बार ऋषियों की एक सभा में उसने फिर प्रश्न पूछने की अनुमति मांगी, 'इस बार केवल दो प्रश्न पूछूंगी।' और इन दो विलक्षण प्रश्नों पर ही ऋषि याज्ञवल्क्य को खूब छकाकर अंत

में उसने विनम्रता से हार मान ली थी। (अगले युग में मंडन मिश्र की विदुषी पत्नी भाती के शंकराचार्य से शास्त्रार्थ की कहानी भी इससे मिलती-जुलती है।)

मैत्रेयी ऋषि याज्ञवल्क्य की पत्नी थी। अपनी वानप्रस्थ अवस्था में जब ऋषि याज्ञवल्क्य अपनी दोनों पत्नियों, मैत्रेयी और कात्यायनी के बीच अपनी संपत्ति-विभाजन की व्यवस्था करके जाने लगे, तो मैत्रेयी ने पूछा, 'पृथ्वी पर जो भी ऐश्वर्य है, वह? सब मुझे मिल जाये, तब भी क्या मैं अमर हो जाऊंगी?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, 'नहीं, इससे तुम धनी व्यक्ति की तरह सुखी तो हो सकती हो, अमर नहीं।' 'तब मैं इस संपत्ति का क्या करूँ? मुझे तो अमरता का मंत्र दीजिए।' सुनकर ऋषि बहुत प्रसन्न हुए। उसे ब्रह्मज्ञान दिया और तपस्या में लीन रहकर पति जैसा आसन प्राप्त करने की प्रेरणा भी। अमरता के साधन इस उच्च ज्ञान की शिक्षा का विवरण उपनिषद् में मिलता है। यह इस बात का प्रमाण भी है कि तब विवाहित स्त्रियाँ भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की अधिकारिणी और इस ध्येय के लिए देर तक या आजीवन अविवाहित रहकर समाज में आदर का स्थान प्राप्त करने वाली स्त्रियों के उदाहरण तो उस काल में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं, जिनकी विद्वत्ता और शास्त्र-ज्ञान सामर्थ्य का लोहा प्रसिद्ध ऋषियों ने भी माना।

आगे चलकर बौद्ध काल में केशकुंडला का अपने अपराधी प्रवृत्ति के धोखेबाज व लंपट पति को पहाड़ी से नीचे धकेलकर उसकी हत्या के बाद स्वयं बुद्ध-शरण में चले जाना और फिर आत्मोन्नति द्वारा थेरी (विदुषी भिक्षुणी) के रूप में ख्याति पाना। भक्तिकाल में मीराबाई द्वारा अपने आराध्य श्रीकृष्ण के प्रेम में विह्वल हो, पति-परिवार से विद्रोह और इस प्रकार अपने अतृप्त प्रेम का औदात्तीकरण करके भक्त-कवयित्री का अमर पद पाना। गुप्तकाल में ध्रुवस्वामिनी द्वारा अपने पुरुषत्वहीन पति का परित्याग। विदुषी विद्योत्तमा द्वारा अपने मूर्ख पति का तिरस्कार, रत्नावली द्वारा स्वयं पर बुरी तरह आसक्त पति को फटकार और इस तिरस्कार-फटकार से अंततः कालिदास और तुलसीदास जैसे महाकवियों का निर्माण-ये सब अपने आप में अलग-अलग ढंग की अनूठी कहानियाँ हैं। और लोक-गीतों के माध्यम से भारत की बहुसंख्यक सामान्य नारी का सहज आक्रोश, जो लोक-जीवन में यत्र-तत्र बिखरा पड़ा है, उसमें शोषण के दर्द के साथ उसका बराबरी का हिस्सा है-'पीड़ा तो मैंने सही, पिया के लाल कैसे कहाए?' यहाँ नारी अबला और दबू ही नहीं, कहीं पुरुष के बराबर तो कहीं उस पर भारी भी है। वह न परदे में कैद है, न यौन नैतिकता के कड़े बंधनों में कसी-फंसी। लोकजीवन का यह प्रवाह तो परतंत्र भारत में भी अपने ढंग से सर्वत्र जारी है। आगे विवशता, गरीबी, गुलामी क्रमशः बढ़ते जाने के बावजूद।

शेष अगले अंक में.....

आधुनिक जीवन में 'पूर्णयोग'

- किरिट जोशी

आज हमारा जीवन संकट का जीवन है क्योंकि हमारे सामने कई विकल्प हैं। जब हम कोई भी विकल्प स्वीकार नहीं कर सकते, तब उस दशा को संकट की दशा कहते हैं। आज हम लोगों की मानसिक स्थिति ऐसी ही हो रही है। इसका जहो महत्वपूर्ण कारण है, वह यह है कि विगत पांच सौ वर्षों से विश्व में जो चिन्तन चल रहा है, उसका माध्यम तर्क है। तर्क की शक्ति से जीवन को व्यवस्थित करना और उसे उच्च आदर्शों से परिपूरित करना-यह जीवन का उद्देश्य रहा है। गत पांच सौ वर्षों में सारे विश्व के जीवन में बड़ी क्रान्ति हुई है-फ्रांस में जो क्रान्ति हुई, उसके आदर्श आज भी सारे संसार में फैल रहे हैं। वे आदर्श हैं-

स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व

इन तीन आदर्शों को कैसे हम जीवन में परिपूरित कर सकें, यही तर्कमय जीवन का लक्ष्य है। सत्य की प्राप्ति ही नहीं, सत्य के विषय में श्रद्धा भी इस तर्कयोग को मान्य है। इन दोनों मुद्दों को साथ लेकर आज की स्थिति में यदि हम विचार करें तो ज्ञात होता है कि सत्य सदा सापेक्ष होता है। तर्क का यही उत्तर है कि किसी प्रकार की निश्चितता इस सत्य के विषय में नहीं हो सकती-स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर समानता नहीं रह सकती और समानता की चेष्टा करने पर स्वतन्त्रता नहीं रह पाती। बन्धुत्व तो एक बहुत बड़ा स्वप्न है, अतः स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व तर्क से प्राप्त नहीं हो सकते। सत्य की निश्चितता भी तर्क से प्राप्त नहीं की जा सकती। कोई भी तर्क पर आधारित चिन्तन आज हमें इन्हीं निष्कर्षों पर ले जा सकता है। जितने प्रयोग होने चाहिए, तर्क की दृष्टि से, वे हो चुके हैं-अब हम एक वर्तुल में घूम रहे हैं। निष्कर्ष मिल चुके हैं, आज हमारे सामने तीन विकल्प संभव हैं-

(1) जैसा वर्तुल चल रहा है, वह चलता ही रहेगा।

(2) या तर्क का विकल्प छोड़ दिया जाये, जीवन जो भी दे सकता है, यानि सुख के साधन, उन्हें प्राप्त किया जाये।

(3) तर्क से निम्न स्थिति पर न जाने के बदले हम ऊपर चढ़ें, कोई रास्ता निकालें-नई श्रद्धा, नया प्रयोग, नया स्वप्न मिल सकता है।

किन्तु इन तीनों ही विकल्पों के बारे में हमें कोई निश्चितता नहीं मिल सकती— जिन्होंने सुख का अनुभव कर लिया है, आज उनके सामने भी प्रश्न उठ रहे हैं। भारतीय संस्कृति के अनुसार तर्क से परे एक आध्यात्मिक शक्ति है, एक आध्यात्मिक दर्शन है। किन्तु इसपर भी बादल छाये हुए हैं क्योंकि आध्यात्मिक कहे जाने वाले लोगों के जीवन इतने रहस्यमय हो गये हैं कि उस पर श्रद्धा रखने को मन नहीं होता—मजहब का इतिहास इतना अन्धकारमय रहा है कि आध्यात्मिकता का नाम लेने पर अन्धकार ही दिखाई देता है। इन तीनों विकल्पों के बारे में अनिश्चितता होने से आज हमारा मन कुंठित हो रहा है, जैसे गीता के आरम्भ में अर्जुन को विषाद हो गया था; सभी विकल्प उसके सामने अनिश्चित थे—आज वही स्थिति हमारी है, हम सब सैनिक हैं, सबने गाण्डीव छोड़ दिया है, हम युद्ध करना ही नहीं चाहते। आधुनिक जीवन की मानसिक स्थिति लगभग ऐसी ही है, यह जो चक्र चल रहा है, उसे आगे बढ़ाने में बहुत कष्ट आज अनुभव हो रहा है।

आज की स्थिति में हिंसा इतनी प्रबल है कि सारी मानव जाति समाप्त हो सकती है। दूसरे विकल्प से क्षणिक सुख मिल सकता है किन्तु वह भी एक गहरा गर्त है, उसमें जीवन चल नहीं सकता। अतः तीसरा विकल्प ही स्वीकार्य है, चाहे उसके खिलाफ कितनी भी दलील हो, उसके अन्धकारमय होने की। **यहां यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि आध्यात्मिकता और मजहब एक चीज नहीं हैं—दोनों में अन्तर है। ईश्वर के प्रति उन्मुख होना, श्रद्धा रखना, किसी एक पुस्तक के आधार पर, शब्द के आधार पर कई प्रकार के नियत कर्म करना, जिन्हें मैं प्रपञ्च कहता हूँ, यानि Rituals या Ceremonies इनसे सम्बद्ध सामाजिक घटनायें—वे सब मजहब कहलाती हैं। दूसरी ओर, आध्यात्मिकता भी ईश्वर के प्रति उन्मुख होना है, श्रद्धा रखना है, किन्तु वह धर्म नहीं है।** क्योंकि आरम्भ में आध्यात्मिकता प्रयोगात्मक भी हो सकती है, यह भी सम्भव है कि उसमें श्रद्धा ही नहीं किन्तु धर्म में ऐसा सम्भव नहीं है। जैसा कि विवेकानन्द ने कहा था—

Have disbelief at first.

योग में यह अनिवार्य नहीं कि कोई एक पुस्तक हो जिस पर विश्वास रखना पड़े। उसमें कोई पुरोहित नहीं, कोई प्रवञ्च नहीं, कोई ग्रन्थ नहीं—यही धर्म और आध्यात्मिकता का अन्तर है।

जैसे विज्ञान का इतिहास है, वैसे ही आध्यात्मिकता का इतिहास है। गीता एक योगशास्त्र है, केवल धर्मशास्त्र नहीं। इस योगशास्त्र का इतिहास है। वास्तव में जिसका कोई इतिहास न हो, उसमें प्रमाण का बड़ा प्रश्न उठ सकता है। जिसका इतिहास होता

है, उसमें कठिन होने पर भी प्रमाण खोजना आसान बन जाता है। योगशास्त्र, पर आध्यात्मिकता पर हर युग में प्रश्न होते रहे हैं। जब तक विवेकानन्द को किसी ने यह प्रमाण नहीं दिया कि—

I have seen God more vividly than I see you. तब तक उन्हें भी प्रमाण प्राप्त नहीं हुआ था।

श्री अरविन्द भी एक तर्कप्रधान योगी थे। उन्हें भी जबतक प्रमाण प्राप्त नहीं हुआ, तबतक वे योगशास्त्र में पूर्णरूपेण प्रविष्ट नहीं हुए। किन्तु तर्क से भी परे जब श्री अरविन्द ने आरोहण किया, कई अनुभूतियां प्राप्त कीं, तभी योगदर्शन का सन्तोषकारक प्रमाण उन्हें प्राप्त हुआ। श्री अरविन्द के योग में पूर्वप्रतिपादित सभी सत्त्यों का समावेश हुआ है। वे उन्हें उन सबसे आगे ले जाते हैं। आज के सन्दर्भ में उनके द्वारा उपदिष्ट इस योग की उपादेयता बहुत अधिक है। अपने ग्रन्थ 'द डिवाइन लाइफ' में श्री अरविन्द ने कहा है कि "किसी को भी एक विकल्प या दूसरा विकल्प स्वीकार करने का स्वातन्त्र्य है, कोई बाध्यता नहीं है—यही पूर्णयोग है।" वह अभी परिपूर्ण नहीं हुआ, प्रयोगात्मक स्तर पर है। जबतक मानवता आगे नहीं बढ़ेगी, तबतक यह योग भी आगे बढ़ता रहेगा। योग के इतिहास से वेदों का प्रमाण उपनिषदों में, उपनिषदों का प्रमाण गीता में यह योग क्या है? योग के कई प्रकार हैं जैसे कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग। गीता के कर्मयोग का उद्भव कर्मसंग्राम में हुआ था। कर्म के माध्यम से हम जिस समस्या का समाधान करने की चेष्टा कर रहे हैं, वह कर्म जारी रखो, यही गीता का कर्मयोग का सन्देश है। कर्म को छोड़ो नहीं, सिर्फ उस काम में यह भावना उत्पन्न करो कि तुम यज्ञ कर रहे हो। **यज्ञ का अर्थ है कि साधारणतः कर्म में फल की इच्छा और मैं की भावना रहती है, उसकी आहुति दे दो। इच्छा भी दो तरह की है—काम करने की इच्छा और फल प्राप्त करने की इच्छा। इनमें से फल प्राप्त करने की इच्छा का त्याग करो, यह पूर्णयोग का प्रथम पद है।** फिर 'मैं कर्म कर रहा हूँ' इस भावना का त्याग करो और तीसरा कर्म करते हुए भी कर्म का त्याग करो क्योंकि उसी स्थिति में कर्म ज्ञान में परिणत हो जाता है—

सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।

कर्म करते-करते तुम्हें लगेगा कि कर्म है ही नहीं। यही समझाने के लिए गीता में ज्ञानयोग की धारा प्रवाहमान है। दूसरे अध्याय में बुद्धियोग की प्रधानता है। हमारी सभी समस्याओं का मूल बुद्धि में है, बुद्धि निर्णयकारी है। सामान्यतः बुद्धि मन, अहंकार और तीन गुणों—सत्त्व, रजस् एवं तमस् के वश में रहती है। बुद्धि के दर्पण को पहले स्वच्छ करो, यही बुद्धियोग का प्रतिपाद्य है। जब बुद्धि में स्वच्छ होने पर परम

शान्त ब्रह्म की, अक्षर ब्रह्म की एक अनुभूति उभरती है। इसका यह अर्थ नहीं कि कर्म करना छोड़ दोगे, तभी यह अनुभूति उभरेगी, काम करते हुए भी समाधि लग सकती है, समाधि का अर्थ यह नहीं कि सब कुछ छोड़कर अचेतन हो जाओ, काम करते हुए भी उस ब्रह्म के दर्शन करना-यही सच्चा योग है।

तुम जिसको 'तुम' कहते हो, उसका मूलस्रोत जीव है और उसका मूलस्थान परा प्रकृति में है। यह स्वभाव और स्वरूप है; स्वभाव सिर्फ प्राकृतिक लगाव नहीं है किन्तु अन्तरतम आत्मस्वभाव का अनिवार्य आविर्भाव है। स्वधर्म का अर्थ यह है कि स्वभाव का आविर्भाव हो, स्वभाव का अर्थ यह है कि स्वभाव का लयबद्ध विकास हो। इसका सम्बन्ध गीता के सातवें अध्याय में जिसे 'ज्ञानविज्ञानयोग' कहा है, उससे है। यहां तत्त्वज्ञान का ही प्रश्न नहीं है, अपितु उसके आविर्भाव का भी है।

उपनिषद् में इसी ज्ञान-विज्ञान को विद्या और अविद्या कहा है। विद्या अक्षरब्रह्म का ज्ञान है और अविद्या आविर्भूत तत्त्वों की अनेकता का ज्ञान है। 'ज्ञानविज्ञान योग' की चरम अवस्था में इच्छाओं से भी मुक्ति होगी, फल से भी मुक्ति होगी, अहंभाव से भी मुक्ति होगी। इस दशा में पुरुषोत्तम स्वयं जीव में अपनी शक्ति का संचार करते हैं।

यज्ञ तो इसी का प्रथम सोपान है जहां तुम 'इदं मम' के माध्यम से प्रभु के लिए अर्पित कर्म करते हो। किन्तु आगे बढ़ने पर प्रभु स्वयं जीव के माध्यम से कर्म करते हैं-यही पूर्णयोग है।

इस स्थिति में अहंभाव विगलित हो जाता है, यह परिपूर्ण ज्ञान का एक समग्र दृश्य है। वेदों में जो कहा गया है, उपनिषदों में जो कहा गया है, गीता में जो कहा गया है, उसी का सार है। योग ऐसा शास्त्र है कि जिसका लम्बा इतिहास है। इस इतिहास में तात्त्विक ज्ञान वही रहता है किन्तु इस तत्त्व के आविर्भाव का विकास प्रगतिशील होता है।

इस ज्ञान से आज मानव को एक नई दिशा मिल सकती है। गीता में जो परा प्रकृति है, उसका इस पृथ्वी पर मानवजाति के लिए अवतरण हो सकता है, यह भी एक शक्यता है-

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

परा प्रकृति में किसी धर्म का बन्धन नहीं है, वह असीम है। परा प्रकृति में मानव केवल मानव नहीं रहता, वह अतिमानव बन जाता है-यही पूर्णयोग का लक्ष्य है।



देश की दशा एवं दिशा बतलाएगी 2011 की जनगणना

— आशीष शर्मा

जनगणना का पहला चरण एक अप्रैल से शुरू हो चुका है। दूसरा चरण अगले साल फरवरी में प्रारम्भ होगा तथा मार्च के पहले सप्ताह में इसके आरंभिक आंकड़े पता चल जाएंगे। लेकिन जनगणना का मतलब अब सिर्फ लोगों की गिनती भर नहीं है बल्कि यह जनगणना हमें बताएगी कि पिछले दस साल में हमने कितनी प्रगति की और कहां चूक रह गई। विकास के सरकारी दावों की असलियत को सही जनगणना हमें बताएगी। दूसरे-विकास संबंधी जो आंकड़े सामने आएंगे, उन्हीं के आधार पर अगले दस साल की नीतियां तय होंगी। वैसे भी 2011 में जब जनगणना के आंकड़े आ रहे होंगे तब बारहवीं पंचवर्षीय योजना की तैयारियां चल रही होगी। आपको याद होगा 2001 में जब जनगणना के नतीजे आए थे तो उसमें एक चौंकाने वाला तथ्य निकाला था कि देश में 24 लाख मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे, गिरिजाघर आदि हैं लेकिन स्कूल, कालेजों की संख्या 15 लाख और क्लिनिक, डिस्पेंसरी और अस्पतालों की संख्या छह लाख है। यानी शिक्षा और स्वास्थ्य के कुल केन्द्रों की संख्या मिलकर 21 लाख बनती है जो पूजास्थलों से तीन लाख कम थी। इन आंकड़ों ने हमारे नीति निर्माताओं, उद्योगपतियों, अर्थशास्त्रियों को झकझोरा जरूर होगा और इस दिशा में कदम भी बढ़ाया होगा। इस जनगणना में उम्मीद की जानी चाहिए कि इस बार ये आंकड़े उलट निकलें। इसी प्रकार यह भी देखने वाली बात होगी कि क्या प्रगति कर रहे हमारे समाज में अभी भी महिलाओं का अनुपात पुरुषों की तुलना में घटता जा रहा है या इसमें वृद्धि के संकेत हैं। संभवत इन्हीं सब पहलुओं को ध्यान में रखते हुए केन्द्र सरकार ने इस बार जनगणना की थीम रखी है, 'हमारी जनगणना हमारा भविष्य'।

क्यों जरूरी है जनगणना ?

देश में पहली जनगणना 1862 में हुई थी। यह 15वीं जनगणना है। शुरूआत में हो सकता है जनगणना सिर्फ लोगों की गिनती के लिए होती हो। लेकिन आजादी के बाद से इसका विकास में योगदान बढ़ता गया। देश में विकास योजनाएं बनाने के लिए जनसंख्या के अलावा आंकड़े एकत्रित करने का कोई जरिया ही नहीं है। आए जिन जिन सर्वेक्षण रिपोर्टों में हम पढ़ते हैं, वह सिर्फ कुछ हजार या अधिकतम एक-दो लाख लोगों पर सर्वेक्षण करके तैयार की जाती हैं जबकि जनगणना में 102 करोड़ लोगों के

आंकड़े व्यक्तिगत स्तर पर जुटाये जाएंगे। इसलिए दिल्ली से लेकर देहात तक की सही स्थिति जानने के लिए जनगणना से पुख्ता और कोई सर्वेक्षण नहीं है।

करीब साल भर चलने वाली जनगणना दो चरणों में होती है। 35 राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों में पहला चरण एक अप्रैल से शुरू हो चुका है। पहले चरण में घर और घर से जुड़ी वस्तुओं की गणना की जाती है। इसमें कुल 35 किस्म के सवाल पूछे जा रहे हैं। चूंकि इस बार राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर (एनपीआर) भी बन रहा है। इसका कार्य भी पहले चरण में ही किया जा रहा है। एनपीआर के लिए 15 सवाल पूछे जाएंगे। जनगणना का पहला चरण 15 मई तक पूरा होगा। दूसरे चरण में लोगों की गणना होगी जिसमें लोगों से करीब 18-20 व्यक्तिगत सूचनाओं से संबंधित सवाल पूछे जाएंगे। यह कार्य 9 से 27 फरवरी, 2011 के दौरान देश में एक साथ होगा।

पहला चरण-हाउस लिस्टिंग हाउसिंग जनगणना

कभी भी जनगणना करने वाले 35 सवालों की सूची लेकर आपके पास आ सकते हैं। इसके लिए राज्यवार कार्यक्रम तैयार किया जा चुका है। इनका सही जवाब देना हर नागरिक का कर्तव्य है। क्योंकि इन सवालों के जवाब से ही भावी विकास योजनाएं बननी हैं। सवालों में घर के कमलों से लेकर उसके निर्माण की सामग्री, इस्तेमाल, बिजली, पानी, टॉयलेट, बाथरूम आदि के बारे में पूछा जाएगा। साथ ही आपके घर में वाहन है या नहीं, कैसे जाते हैं आदि सवाल हैं। इस बार कुछ नए सवाल मोबाइल फोन, कंप्यूटर एवं लेपटॉप को लेकर जोड़े गए हैं। एक पहले से पूछे जा रहे हैं एक अटपटे सवाल को हटा दिया गया है जिसमें पूछा जाता था कि क्या घर में विवाहित जोड़े के सोने के लिए अलग कमरा है। पूछे जाने वाले एक सवाल से दर्जनों किस्म के आंकड़े एकत्र हो सकते हैं। मसलन, एक सवाल है घर में कितने कमरे हैं। इसका जवाब एक से दस तक हो सकता है। जब 102 करोड़ की जनता के जवाब आएंगे तो इसके आधार पर आंकड़ों की टेबलें बनेंगी कि कितने लोग एक कमरे के घर में रहते हैं, कितने दो, कितने तीन, कितने चार आदि, कितने झोपड़ी में कितने बिना छत के। फिर यह आंकड़ा राज्यवार, फिर जिला, तहसील और शहर, कस्बे और गांव के हिसाब से बनेगा। इस प्रकार जो 35 सवाल घर और घर से जुड़ी वस्तुओं के बारे में पूछे गए हैं वह करीब-करीब हमारे रहन-सहन और आर्थिक स्थिति का 95 फीसदी हालात प्रस्तुत कर देंगे।

राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर

यह नई कवायद है। इस बार जनगणना की सूचनाएं एकत्र करने के साथ-साथ देश के सभी नागरिकों का निजी डाटा भी तैयार होगा। इसमें नाम-पते के अलावा फोटो

और दसों अंगुलियों के फिंगरप्रिंट भी लिए जाएंगे। इसके बाद 15 साल से बड़े लोगों को एक विशेष पहचान नंबर दिया जाएगा तथा जो कम उम्र के हैं, उन्हें मां-बाप या अभिभावकों के साथ लिंक किया जाएगा। बाद में नागरिकों को बायोमैट्रिक पहचान पत्र भी प्रदान किया जाएगा। इस कार्य के लिए यूनिक आइडेंटिफिकेशन अथॉरिटी (यूआईडीए) की स्थापना की जा चुकी है जिसके चैयरमैन मशहूर आईटी विशेषज्ञ नंदन नीलेकणी हैं। जनगणना के बाद भी विशेष पहचान नंबर और नागरिकता पहचान पत्र का कार्य देने की प्रक्रिया चलती रहेगी। ज्यों-ज्यों युवक 15 साल की उम्र पूरी करेंगे वे नंबर के लिए आवेदन करेंगे और उन्हें बायोमैट्रिक कार्ड मिलते जाएंगे।

एनपीआर के फायदे ?

यह सवाल जब-तब उठे हैं कि हजारों करोड़ रुपये खर्च करके जनसंख्या रजिस्टर और फिर नागरिकता पहचान पत्र देने से क्या फायदे हैं? जबकि पहले से ही राशन कार्ड, पैन कार्ड, वोटर कार्ड, पासपोर्ट आदि दिए जा रहे हैं। इसका कोई ठोस जवाब अभी किसी के पास नहीं है। अमेरिका जैसे कई देशों में इस तरह के नंबर देने का प्रावधान है जो नागरिकता की पहचान के साथ-साथ सरकारी योजनाओं के प्रभावी क्रियान्वयन में मददगार साबित होते हैं। ऐसा भी नहीं है कि इस नंबर या कार्ड से भविष्य में राशन कार्ड, पैन कार्ड या वोटर कार्ड की जरूरत नहीं रहेगी। इसलिए फिलहाल इसे हमारे चंद्र अभियान की तरह संभावित किसी भावी फायदे के लिए निवेश के रूप में देखा जा रहा है। अलबत्ता जनसंख्या से जुड़े विशेषज्ञों का कहना है कि पहचान नंबर और पहचान पत्र का यदि फायदा होगा तो सिर्फ पुलिस महकमे को हो सकता है, वर्ना नहीं।

जनगणना का दूसरा चरण

जनगणना का पहला दौर पूरा होने और आंकड़ों के प्रोसेसिंग का काम पूरा होने के बाद फरवरी 9-27 के बीच जनगणना का दूसरा और अंतिम दौर चलेगा। इस दौरान लोगों से व्यक्तिगत जानकारियों के संबंध में 18-20 सवाल पूछे जाएंगे। इन सवालों को अंतिम रूप दिया जा रहा है। इनमें आमतौर पर नाम, पता, उम्र, बच्चों, शिक्षा, रोजगार, भाषा, धर्म, आदि के बारे में पूछा जाता है। विशेषज्ञों ने दो और सवाल पूछे जाने की जरूरत पर जोर दिया है लेकिन सरकार उसमें फैंसला नहीं ले रही है। एक-इस दौरान लोगों की आय के भी आंकड़े जुटाए जाने चाहिए ताकि पता लगाया जा सके कि देश में वाकई कितने गरीब हैं। इससे गरीबी की रेखा से नीचे जीवन-यापन करने वालों का सही ब्यौरा एकत्र किया जा सकेगा। दूसरे अन्य पिछड़ा वर्ग (ओबीसी) की आबादी का सटीक ब्यौरा नहीं है। आजादी से पूर्व हुए कुछ सर्वेक्षण

बताते हैं कि ओबीसी आबादी 27 फीसदी थी। इसी के आधार पर उन्हें 27 फीसदी आरक्षण विभिन्न क्षेत्रों में दिया जा रहा है। लेकिन यह आंकड़ा सटीक नहीं है। सरकार से अपेक्षा की जा रही है कि अनुसूचित जाति, जनजाति के लोगों की भांति ही ओबीसी के भी आंकड़े वह एकत्र करे लेकिन अभी तक इस बारे में कोई फैसला नहीं हुआ है।

यूआईडीए

यूनिक आईडेंटिफिकेशन अथॉरिटी का गठन किया जा चुका है जिसके प्रमुख नंदन नीलेकणी हैं। कई बार यह सवाल उठता है कि जनगणना महकमे का क्या काम है और यूआईडीए का क्या काम है क्योंकि दोनों एक जैसी बात कहते हैं कि पापुलेशन रजिस्टर बनाया जाएगा, नंबर मिलेगा, कार्ड मिलेगा आदि। यहां स्पष्ट कर दें कि जनगणना, जनसंख्या रजिस्टर बनाने तथा नंबर देने का कार्य जनगणना महकमा ही करेगा जो गृह मंत्रालय के अधीन है। यूआईडीए अथॉरिटी की भूमिका खासतौर पर इसके तकनीकी पहलू को देखना है। नंबर आवंटन की प्रक्रिया को जनगणना महकमा ही पूरा करेगा और सभी पक्षों के कमेंट लेने के बाद उसे यूआईडीए को सौंपेगा। यूआईडीए नंबर की जांच करेगा। यह सुनिश्चित करेगा कि उसकी कोडिंग ठीक है या नहीं, कहीं डुप्लीकेशन तो नहीं हो रहा है। फिर नंबर के आधार पर बायोमैट्रिक डाटाबेस में डाले जाएंगे और कार्ड बनेंगे।

जनगणना का कानूनी पहलू

जनगणना का काम सेन्सेस एक्ट 1947 के प्रावधानों के तहत किया जाता है जबकि जनसंख्या रजिस्टर बनाने का काम सिटीजनशिप एक्ट के तहत होता है। यह भी एक रोचक तथ्य है कि यह योजना एनडीए शासन में बनी थी कि हर नागरिक को पहचान पत्र मिले। मकसद देश में अवैध घुसपैठ को रोकना था। लेकिन योजना के और भी इस्तेमाल निकल सकते हैं। इसमें सहयोग करना हर व्यक्ति की जिम्मेदारी है। एकत्र की जाने वाली सूचनाएं को गोपनीय रखने का प्रावधान है। यहां तक कि कोर्ट के आदेश पर भी ये सूचनाएं किसी को नहीं दी जा सकती।

कुल खर्च- जनगणना के कार्य को पूरा करने के लिए केंद्रीय मंत्रिमंडल ने 3538 करोड़ रुपये मंजूर किए हैं। यूआईडीए का आवंटन अलग है। वैसे जनगणना कार्यालय का अनुमान है कि 2209 करोड़ में यह कार्य पूरा कर लिया जाएगा। इस कार्य में कुल 25 लाख कार्मियों की मदद ली जाती है। ये लोग मूलतः राज्य सरकारों के कर्मचारी टीचर वगैरह होते हैं जिन्हें पहले ट्रेनिंग दी जाती है तथा फिर इस कार्य में मदद ली जाती है। ये लोग 640 जिलों, 5767 तहसीलों, 7642 टाउनों, छह लाख

गांवों और 24 करोड़ घरों में जाकर आंकड़े एकत्र करते हैं।

घर संबंधी पूछे जाने वाले ये ३५ सवाल

घर कहां पर हैं? बिल्डिंग नम्बर ? घर का नंबर? फर्श किससे बना है? दीवारें किससे बनी हैं? छत किससे बनी हैं? घर की कंडीशन कैसी है? घर का क्या इस्तेमाल आवासीय या कुछ और? क्या मकान खाली है? कितने लोग रहते हैं? कितने पुरुष? कितनी स्त्रियां? मुखिया का नाम? वह पुरुष है या स्त्री? अनुसूचित जाति या जनजाति? घर के मालिक कौन है? घर में कमरे कितने? विवाहित जोड़े कितने? पानी कौन सा पीते हैं? स्रोत क्या है पेयजल का? प्रकाश का स्रोत क्या है? अटैच टायलेट है या नहीं? सीवर कनेक्शन है या नहीं? बाथरूम है या नहीं? किचन है? खाना बनाने का क्या ईंधन है? घर में रेडियो/ट्रांजिस्टर? टेलीविजन? कम्प्यूटर/लैपटॉप? टेलीफोन/मोबाइल? साईकिल/स्कूल/बाइक? कार/जीप/वैन ? क्या बैंकिंग सुविधा हासिल है?

एनपीआर के लिए पूछे जाएंगे ये १५ सवाल

व्यक्ति का नाम? लिंग? जन्म तिथि? जन्म का स्थान? वैवाहिक स्थिति? पिता का नाम? माता का नाम? पति या पत्नी का नाम? मौजूदा पता? कब से रह रहे हैं? स्थाई पता? व्यवसाय, राष्ट्रीयता? शैक्षिक योग्यता? परिवार के मुखिया के साथ रिश्ता?

आबादी की रफ्तार पर लगेगा ब्रेक!

देश की जनसंख्या 102 करोड़ से बढ़कर कितनी होती है इसके पक्के नतीजे तो मार्च 2011 में ही पता चल पाएंगे। लेकिन कुछ समय पूर्व राष्ट्रीय जनसंख्या आयोग ने भारत के महापंजीयक एवं जनगणना आयुक्त कार्यालय की मदद से जनसंख्या वृद्धि को लेकर जो प्रोजेक्शन किया, उसके अनुसार इस बार आबादी में गिरावट का रूझान दिखना शुरू हो जाएगा। इसका यह मतलब नहीं है कि आबादी में इजाफा नहीं होगा। लेकिन वह तो बढ़ेगी ही लेकिन जनसंख्या की वृद्धि दर 1.6 से घटकर 1.3 रह जाएगी। दूसरे कुल प्रजनन दर (टीएफआर) भी 2.9 से घटकर 2.3 तक आने का अनुमान है। जनसंख्या स्थिरीकरण के लक्ष्यों के तहत भी टीएफआर को 2.1 पर लाने का लक्ष्य रखा गया है जिसके हम काफी करीब पहुंच जाएंगे।

आजादी के बाद से यह पहला मौका होगा जब आबादी में गिरावट का ट्रेंड नजर आएगा। इस बात को यूं समझ सकते हैं कि 1961 में देश की कुल आबादी 55 करोड़ थी। जो 1971 में बढ़कर 68 करोड़ हो गई। इजाफा हुआ 13 करोड़ का। इसके बाद 1981 में जनसंख्या जा पहुंची 84 करोड़ और कुछ इजाफा हुआ 16 करोड़ का। फिर 2001 में जनसंख्या हुई 102 करोड़ और आबादी में कुल इजाफा हुआ करीब 18

करोड़ का। इस वृद्धि दर के अनुसार अन्तरराष्ट्रीय एजेंसियों का आकलन है कि 2011 में भारत की आबादी बढ़कर 125 करोड़ हो जाएगी। यानी कुल इजाफा 23 करोड़ का होगा। महापंजीयक कार्यालय और जनसंख्या आयोग ने पिछले आठ वर्षों के दौरान प्रजनन दर में गिरावट के मद्देनजर को आकलन प्रस्तुत किया है, उसके अनुसार 2011 में आबादी 118 करोड़ रहने का अनुमान है। यानी इसमें कुल इजाफा महज 17 करोड़ का होगा। यानि वृद्धि की दर पिछले दशक से कम होगी। आबादी में गिरावट के रूझान सकारात्मक है या नहीं इस पर जनसंख्यावादियों में भारी मतभेद है। हालांकि इसे बेहतर संकेत माना जाना चाहिए। लेकिन कुछ आकलन खतरे के संकेत भी देते हैं।

स्त्री पुरुष अनुपात जिसे लेकर बीते दशक में देश में खूब हंगामा रहा है, उसमें सुधार के संकेत नहीं हैं। 2001 में प्रति एक हजार पुरुषों पर 933 महिलाएं थी जो 2011 में 932 रहने का अनुमान है।

कम उम्र के लोग घटेंगे—इसी आकलन में कहा गया है कि अभी 2001 में 15 साल से कम उम्र के लोगों की संख्या 34 फीसदी थी जो 2011 में महज 28 फीसदी रह जाएगी।

बढ़ जाएंगे बूढ़े—2011 में बूढ़ों की आबादी में काफी इजाफे का अनुमान है। 2001 में बूढ़ों की आबादी 6.9 फीसदी यानी करीब 7.06 करोड़ थी जो 2011 में बढ़कर 8.3 फीसदी यानी करीब 9.74 करोड़ हो जाएगी। मध्यम आयु वर्ग के लोगों में इजाफा होगा। अभी 22 फीसदी आबादी मध्यम आयु वर्ग के लोगों की है जो बढ़कर 25 फीसदी हो जाएगी।

औसत आयु में इजाफे के संकेत—यदि पिछली जनगणना के आंकड़ों पर नजर डाले तो पुरुषों की औसत आयु 64 और महिलाओं की 66 साल दर्ज की गई थी। दस सालों के बाद इसमें इजाफे के संकेत हैं। इसके क्रमश 67.3 तथा 69.6 साल रहने का अनुमान लगाया गया है।



**My books, the best companions, are to me a glorious court,
where hourly I converse with the old sages and philosophers.**



**Books do preserve as in a vial the purest efficacy and
extraction of that living intellect that bred them.**

अपाहिज जिन्दगी का दर्द

— राजेन्द्र मोहन भटनागर

अपाहिज जिन्दगी केवल शरीर को ही अवश नहीं बनाती अपितु वह मन पर भी गहरा घाव छोड़ जाती है। समाज द्वारा उपेक्षित एवं तिरस्कृत व्यक्ति भी विकलांग के समान ही महसूस करता है। इस वर्ग को समाज की दया नहीं अपितु कर्तव्य समझकर की गई मानवोचित सम्मान पूर्ण सहायता की आवश्यकता है।

विकलांग चेतना एक समस्या है। दैहिक विकलांगता व्यक्ति को इतना तोड़ और निचोड़ जाती है कि व्यक्ति अपने होने के एहसास को भूल जाना चाहता है। हालांकि इसके कुछ अपवाद भी हैं। उनकी उपलब्धियां अविस्मरणीय हैं एवं समाज उनका आदर करता है। महाकवि सूरदास का उदाहरण इस संदर्भ में दिया जा सकता है। लेकिन उनकी सफलता का यह अभिप्राय नहीं है कि उनको सामाजिक अस्वीकार और उपेक्षा से गुजरना नहीं पड़ा।

निस्सन्देह विकलांगता मानसिक पक्षाघात के समान है। व्यक्ति स्वयं अपने को देखकर हताश और जर्जरित होता रहता है। वह स्वयं को पहचानने से साफ इन्कार करना चाहता है। उसका व्यक्तित्व दब जाता है। उसे ऐसा लगता है कि जैसे वह किसी जघन्य पाप की सजा पा रहा हो।

बीसवीं शताब्दी की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उसने विकलांगों के प्रति सम्मान का दृष्टिकोण अपनाया है। विज्ञान के विकलांगों के व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाए रखने के लिए जबर्दस्त खोज की है। देखने में ही नहीं वह व्यक्ति काम करने में भी सामान्य व्यक्ति की तरह से नज़र आता है। इसके बावजूद भी वह अपने को अपंग मानसिकता से अलग नहीं कर पाता।

विकलांगता की चेतना व्यक्ति का पीछा नहीं छोड़ती है। व्यक्ति के साथ वह परछाईं सी बनी रहती है। व्यक्तित्व की इस कमी को विकलांग व्यक्ति दूसरे तरीकों से पूरा करने की कोशिश करता है। यही कारण है कि सूरदास अच्छे कवि हुए। बधिर श्रेष्ठ कलाकार के रूप में स्थापित होते हैं।

ध्यान से देखें तो विकलांगता के भी अनेक स्तर हैं। अनेक विकलांग व्यक्ति भी अपना व्यक्तित्व आकर्षक बनाते हैं। एक विकलांगता जन्मजात होती है और दूसरी जन्म के बाद किन्हीं कारणों से। व्यक्ति युद्ध में भी विकलांग हो सकता है। कभी व्यक्ति दुर्घटना का शिकार हो जाता है। दुर्घटना में उसके हाथ-पांव जाते रहते हैं। पोलियो या पक्षाघात के कारण भी व्यक्ति को विकलांगता का शाप भोगना पड़ता है। बहुत कुछ इस बात पर भी विकलांग व्यक्ति की मानसिक चेतना निर्भर है कि वह कैसे विकलांग हुआ। विकलांगता से पूर्व वह कैसा था?

यह प्रचार करना कि हमें विकलांगों के प्रति सहानुभूति रखनी चाहिए, उतना सराहनीय नहीं है, जितना कि विकलांगों को समाज में अपना स्थान बनाने के लिए मुहैया की गई सुविधाएं। वे सुविधाएं नौकरी पाने से लेकर विकलांगों के लिए अंगों को दिलाने तक हैं। कृत्रिम अंगों के लिए धन चाहिए। हर एक विकलांग के लिए वह सम्भव नहीं है। जो आर्थिक रूप से सक्षम नहीं होते वे विकलांग मानसिकता के अभिशाप को निरन्तर भोगते रहते हैं। उनका चैतन्य सदा के लिए क्षतिग्रस्त हो जाता है। उनमें वीभत्समूलक विसंगतियां, अन्तर्कूटाएं और संत्रास पूर्ण स्थितियां घर करने लगती हैं। उनमें समाज के प्रति नफरत उत्पन्न होती है। वे दुनिया से विमुख रहने में आनन्द की अनुभूति करते हैं। उनका अपना व्यापक असन्तोष विध्वंसात्मक सृजन में प्रकट होता है। वे समाज व राष्ट्र दोनों के लिए खतरनाक स्थितियां पैदा कर सकते हैं।

बात दरअसल यह समझने की है कि हमारा समाज पारस्परिक सम्बन्धों के नजरिये को किस रूप में संस्थापित करता है। उनके आपसी सम्बन्धों में सौहार्दता तथा जीवमीय ऊष्मा कितनी है? विकलांग मानसिकता की इस हत चेतना की उपज का कारण दैहिक उतना नहीं है, जितना समाज संस्थापित व्यवहार-मूल्य का सृजन है। सामाजिक अपंगता ही व्यक्ति को यह सोचने के लिए बाध्य करती है कि वह तत्कालीन सामाजिक संस्थितियों में अपने को किस रूप में पाता है।

हर एक व्यक्ति में वह शक्ति नहीं होती जिससे समाज की अन्तर्धारा को बदला जा सके और न हर एक में नवस्थापनाओं के लिए संघर्ष करने की ही क्षमता होती है। आम आदमी प्रचलित मान्यताओं के ग्राह्य स्वरूप को स्वीकार करने की स्थिति में ही सुविधा पाता है। यही कारण है कि सामाजिक मान्यताओं का प्रभाव व्यक्ति को अपनी ओर खिंचने के लिए विवश करता है।

दलित तथा उपेक्षित मानसिकता के शिकार न केवल अपंग ही हैं, बल्कि एक

बड़ा वर्ग इसका शिकार है। कदाचित उसकी अन्तर्वेदना उससे कम नहीं है। वह तो अपंग नहीं है, फिर वह वर्ग उस अकथनीय पीड़ा को क्यों भोग रहा है? इस सवाल से यह सिद्ध होता है कि मानसिक दयनीयता का कारण वह समाज है, जिसमें वह रह रहा है। अपंग मानसिकता की पराजित उपेक्षा का इलाज समाज की संस्कारजन्य सदाशयता है, जो व्यक्ति को भरपूर सम्मान देने में सन्निहित है।

सुसंस्कार-संकुल समाज का व्यवहार मानवोचित हो तो स्वतः ही अपंग वेदना की अन्तर्धारा शिवमयी हो उठेगी। उसे वेदना में से दृष्टि मिलेगी, सुख मिलेगा, सृजनात्मक उत्खनन की अन्तश्चेतना को संतृप्ति मिलेगी।

अपंगता यंत्रों की सहायता से या कृत्रिम अंगों की सहायता से उस रिक्तता को किसी सीमा तक पूरा कर देती है, जिससे मानवीय जीवन की गति बरकरार रहती है और क्रियाशीलता की अनुभूति होती है। परन्तु उससे उस शून्यता को नहीं भरा जा सकता, जिससे अपंग व्यक्ति का चिन्तन अभावग्रस्त रहता है। समाज की सदाशयता ही उसे पूरा कर सकती है।

आज जरूरत इस बात की है कि हमारे समाज का चिन्तन स्वस्थ हो। उसमें स्वस्थ व्यवहार हो। पारस्परिकता ऊष्माबद्ध हो। वैसे तो विज्ञानपरक यांत्रिक तथा आर्थिक चेतना का समग्र चिन्तन इस बात पर निर्भर है कि अर्थ की दृष्टि से अपंग असमर्थ न रहें।

समाज का आधार स्वस्थ हो। इससे व्यक्ति की बाह्य संरचना को अवश्य लाभ होगा एवं अपंगता की अपेक्षा भी नहीं खलेगी। अभाव की शून्यता अहर्निश मानव जाति को सालती रहती है। बाह्योपचार से एक सीमा तक अपंगता को दूर किया जा सकता है। लेकिन खण्डित मानसिकता के वर्गों को स्वस्थ सामाजिक चेतना से ही भरा जा सकता है।

आज नहीं तो कल हमें यह स्वीकार करना ही होगा कि विकलांग चेतना को व्यावहारिक मापदण्डों तथा मूल्यों में स्वस्थ परिवर्तन किए बिना इस समस्या का हल नहीं किया जा सकता। अपूर्णता की पूर्णता का एहसास समाज की संस्थितियों पर अवलम्बित है। खण्डित एहसासों की पूर्णता का नाम ही मानवीय ऊष्मा है। उससे हर प्रकार की खण्डित, अपाहिज और वैकलांगिक मनःस्थिति को भरपूर लाभ हो सकता है। किसी अन्तिम निष्कर्ष तक पहुंचे बिना भी इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि विकलांगों की जिजीविषा आज सामाजिक करुणा और दया पर आश्रित है, क्योंकि हमारे समाज का नजरिया इस प्रकार का है। वह कर्तव्य के स्थान पर दया

दिखाने में अपना हित समझता है। इसी नजरिए ने विकलांगों को वह घाव दिया है, जो अविराम प्रयत्नों के बावजूद भी भर नहीं पाता है। एहसास के पैबंद नजरियों से विकलांगता व्यक्ति के लिए अभिशाप बनी हुई है। कुल मिलाकर हमें अपने आपको विकलांग मानसिकता से बचाना है, विकलांगबद्धता की विवशता को दूर करना है और व्यक्ति-अभिमुख पृष्ठभूमि को सशक्त करना है। जब समाज को चेतना विकलांग नहीं होगी, तब विकलांगता की वर्गमूलक खण्डित तथा तकलीफदेह विचारधारा स्वतः समाप्त हो जाएगी। एक नई स्फूर्त अंतश्चेतना मानव मन में अंकुरित हो उठेगी। आज ऐसे ही प्रयासों की आवश्यकता है जो मानवीय ऊष्मा को तरजीह दें और एक-दूसरे को स्नेह-सूत्र में बांध सकें।

AGING IS SAGING

As we grow older, we become less impetuous and more dispassionate. We adopt equanimity. In the process of evolving as individuals, we continue weaving the fabric of our lives and the designs we create everyday are helping shape the universe, Sometimes.

It is only towards the end of our lives that we will begin to understand what impact we might have had on the life of others and how we shaped the universe. Did we build bridges rather than walls? Did we reach out to others or did we imprison ourselves in narrow confines of prejudice and bigotry? Did we allow others to voice their opinions and give them an ear? Or were we so self-absorbed that we could not think beyond our own pedestrain needs? Did we reach into our intrinsic divine self and connect to divinity in others? Only time can tell.

Till we take our last breath, we will continue to define ourselves through our attitude and actions. We will keep revealing the way we have difined ourselves-either as creators of beauty and harmony in the wider universe or as killjoys who spent a great deals of time and energy disrupting the life of others and our own.

मुद्रित साहित्य का भविष्य

— कमलेश भट्ट कमल

समाचार पत्रों, पत्रिकाओं एवं यहां तक की पुस्तकों को भी इंटरनेट पर पढ़ने का चलन बढ़ रहा है। पश्चिम में समाचार पत्रों की संख्या घटी है तो ऐसे में क्या पुस्तकीय साहित्य का भविष्य भी अंधकारमय है। अब तक के अनुभव से तो ऐसा नहीं लगता।

इस ज्वलंत प्रश्न पर पढ़िये विद्वान लेखक के विचार जो एक जाने माने कवि भी हैं।

काल अपनी निरंतरता में अनंत और असीम है। काल सृष्टि से पूर्व भी था और उसके बाद भी रहेगा। प्रत्येक निमिष का भूत होते जाना ही काल की नियति है। इस दृष्टि से देखें तो काल भूत और भविष्य का ही युग्म है, समुच्चय है। भविष्य का भूत होते जाना एक सतत और शाश्वत प्रक्रिया है और यही काल की अपनी गति भी है। लेकिन गतिमान काल के इस प्रवाह से ही वर्तमान की अवधारणा विकसित की गई है जो क्रमशः भूत बनते निमिष को विस्तार देकर सेकेंड, मिनट, घंटा, दिन, सप्ताह, पक्ष, माह, वर्ष को ही नहीं, दर्शकों, शताब्दियों एवं सहस्राब्दियों को भी जन्म देती है। जब हम साहित्य के भविष्य की बात करते हैं तो दरअसल वर्तमान के किसी बड़े कालखंड में उसके अस्तित्व की ही बात कर रहे होते हैं। जिस साहित्य का जीवन जितने बड़े कालखंड में प्रासंगिक बना रहता है, उस साहित्य का भविष्य उतना ही सुरक्षित माना जाता है।

आज के इलेक्ट्रॉनिक और वैश्विक युग में जब हम साहित्य के भविष्य की बात करते हैं तो हमारे जेहन में कहीं ने कहीं मुद्रित साहित्य के अस्तित्व के संकट का प्रश्न घुमड़ रहा होता है। यह हमारी चिंता का विषय बनता जा रहा है कि आगे चलकर कहीं मुद्रित साहित्य समाप्त तो नहीं हो जाएगा? हमारी यह चिंता वाजिब भी है और जरूरी भी। मनुष्य की वरीयताओं में मुद्रित साहित्य के लिए समय का स्पेस लगातार घटता जा रहा है। यों तो मनुष्य के पास वे तमाम सारे विस्तृत कालखंड मौजूद हैं, जिनका जिक्र पीछे किया गया है, लेकिन व्यावहारिकता में उसके पास सिर्फ रात-दिन वाला चौबीस घंटे के चक्र का कालखंड ही उपलब्ध रहता है। उसकी आदिम और मूल आवश्यकता भोजन और नींद का चक्र इस कालावधि में ही पूर्ण होकर फिर नए

चक्र में प्रवेश कर लेता है। भोजन और नींद की विवशता मनुष्य को इस चौबीस घंटे के चक्र से बाहर जाने ही नहीं देती। इसमें कोई भी व्यतिक्रम शरीर पर प्रतिकूल प्रभाव डालने लगता है। इस चौबीस घंटे के समय का निवेश हम अपने किन-किन कार्यों के लिए कर पाते हैं, हमारी सफलता का श्रेय इसी पर निर्भर करता है। लेकिन जब हम कोई कार्य कर रहे होते तो हम अकेले नहीं होते हैं बल्कि हमसे इतर सृष्टि भी हम पर तरह-तरह के अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव डालती है। प्रतिकूल प्रभाव की स्थितियों में हमारा खिन्न और दुखी होना स्वाभाविक है जिससे मानसिक क्षरण होने लगता है।

साहित्य जैसी कलात्मक विधाएं इस मानसिक क्षरण को रोकने तथा मस्तिष्क को उत्प्रेरक ऊर्जा देने का ही कार्य करती हैं। यदि साहित्य से रिश्ता तोड़ लिया जाता है तो जाहिर तौर पर दिल-दिमाग को मिलने वाली इस सकारात्मक ऊर्जा से भी हम वंचित होते चले जाते हैं, जो अंततः मनुष्य के रूप में हमारी सफलता और क्रियाशीलता के लिए अवरोधक सिद्ध होता है।

आज के समय का सबसे विचित्र पक्ष यह है कि मनुष्य के पास सूचनाओं का ऐसा विस्फोट है कि वह इनके मायाजाल में ही उलझकर रह गया है। जीवन में समय की कमी का रोना रोने वाले घंटों का समय केवल टेलीविजन के पर्दे पर निगाहें गड़ाए यों ही नष्ट करते रहते हैं। यही क्यों, क्रिकेट जैसे खले तो साल में लोगों के कई-कई दिन डकार जाते हैं। समय नष्ट करने के और भी कई साधन हैं। महानगरों का निरंतर बढ़ता जा रहा ट्रैफिक मनुष्य की गति के लिए एक बड़ा अवरोधक तो है ही, समय नष्ट करने का एक प्रमुख कारक बनता जा रहा है। ऐसे में साहित्य के भविष्य के लिए सबसे बड़ी चुनौती समय की इस कमी के रूप में ही प्रस्तुत होती है क्योंकि साहित्य लोगों की वरीयता के सबसे निचले प्रक्रम पर है। लोगों की पहली वरीयता पर 'अर्थ' है और इस अर्थ ने पूरी धरती पर जितना अनर्थ फैला रखा है वह किसी से छिपी हुई बात नहीं रह गई है। दुनिया के तमाम देशों में फैली गरीबी, भुखमरी और बेरोजगारी के मूल में अर्थ का अनर्थ ही है। राष्ट्रों की संप्रभुताएं इसी अर्थ के लिए निगली जा रही हैं। इसी के लिए देशों में बीमारियों के वायरस फैलाए जाते हैं। इसी के बल पर देशों को बीमार बताकर उन्हें दवाइयां बेची जाती हैं और इसी के लिए हथियारों की खरीद-बिक्री और युद्ध के हालात पैदा किए जाते हैं। लेकिन अर्थ-युग में अर्थ के लिए जीते हुए हम भूल जाते हैं कि यदि जीवन में सुख-शांति और आनंद नहीं है तो अर्थ की सारी अर्थवत्ता ही संदिग्ध होकर रह जाती है।

लगता भले हो, लेकिन सुख-शांति और आनंद की प्राप्ति कोई सहज प्रक्रिया नहीं है। मानव सभ्यता के प्रारंभ से ही मनुष्य ने इसकी प्राप्ति के लिए तरह-तरह के

प्रयोग, उद्यम और आविष्कार किए हैं। साहित्य अंततः मनुष्य के इसी चरम लक्ष्य की प्राप्ति का एक कलात्मक और उत्कृष्ट साधन है। अतः साहित्य के भविष्य का प्रश्न एक प्रकार के मानव सभ्यता के भविष्य का भी प्रश्न बन जाता है। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि साहित्य मानव के मन-मस्तिष्क की ईजाद भले ही हो, लेकिन वह सभ्यताओं के जीवन चक्र के अतिक्रमण की भी शक्ति रखता है। हमारे वेद-पुराण जैसे कितने ग्रंथ हैं जो उस काल के उत्कृष्ट साहित्य भी हैं। इसी तरह विश्व की दूसरी सभ्यताओं का विकास विकसित साहित्य के साथ ही हुआ है।

अभिप्राय यह कि साहित्य, जिसे हम शब्दों का कलात्मक समुच्चय मानकर चलते हैं, हमारी सभ्यता और संस्कृति का वाहक भी होता है तथा हमारे बीते हुए काल का वर्तमान कहीं न कहीं इन्हीं शब्दों में अक्षुण्ण रह जाता है। अतः साहित्य को भविष्य की एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में भी लिखे जाते रहने की आवश्यकता है।

यह तो हो सकता है कि किसी कालखंड विशेष के लोग साहित्य की आवश्यकता का गहराई से अनुभव न करते हों, लेकिन भविष्य के किसी दूसरे कालखंड के लोग जब साहित्य से जुड़ना चाहें तो उन्हें इसके अभाव के कारण निराशा न होना पड़े। आखिर हम सारा कुछ आज के लिए और अपने ही लिए तो नहीं करते हैं न? आने वाले समय और भावी पीढ़ियों की चिंता भी हमें बहुत कुछ करने के लिए प्रेरित और विवश करती है।

साहित्य वस्तुतः संवेदना का क्षेत्र है। साहित्य से यदि संवेदना को हटा दिया जाय तो वह शुद्ध मनोरंजन की वस्तु बनकर रह जाता है। साहित्य में जब तक संवेदना का अंश शेष रहेगा, साहित्य की प्रासंगिकता बनी ही रहेगी। संवेदना ही वह तत्त्व है जो मनुष्य को उसकी सामाजिकता प्रदान करता है। संवेदनशील मनुष्य किसी मशीन या रोबोट जैसा हो जाता है। यह संवेदनहीनता की पराकाष्ठा ही तो है कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की जान ले लेने पर उतारू हो जाता है। दुनिया की तमाम हिंसा, युद्ध, संघर्ष और खून-खराबा तथा धार्मिक, जातीय व सांप्रदायिक उन्माद-इस सभी के मूल में मनुष्य की संवेदनहीनता ही है। इसीलिए संवेदना का विशेष वाहक होने के नाते साहित्य उक्त हिंसा और खून-खराबे के विरुद्ध कभी मुखर तो कभी मौन विरोध की भूमिका तैयार करता है। यह प्रक्रिया प्रायः इतनी धीमी गति से होती है कि हम उसके प्रभाव का आकलन ही नहीं कर पाते। इसीलिए यदि दुनिया को खून-खराबे से बचाकर उसे शांतिपूर्ण और सुखी जीवन देना है तो हमें साहित्य का भी संरक्षण बनाना होगा तथा साथ ही साथ उसे ज्यादा संवेदनापूर्ण और ज्यादा विवेकपूर्ण बनाना होगा।

जो समाज साहित्य को उचित संरक्षण तथा उसके विकास के लिए समुचित परिवेश नहीं दे पाएगा, वह कहीं न कहीं अपनी असामाजिकता और अराजकता को ही बढ़ा रहा होगा। यदि आज समाज में कोई ऐसी स्थिति व्याप्त है तो उसके मूल में साहित्य से समाज की बढ़ती दूरी भी एक प्रमुख कारण है।

हम पूरे आत्मविश्वास के साथ कह सकते हैं कि आज हमें साहित्य का भविष्य कितना ही धुंधला क्यों न नजर आता हो लेकिन हमारे भविष्य को बचाने में इसकी अहम भूमिका होगी। साहित्य को भी अपनी इस भूमिका को बखूबी पहचानना होगा तथा तमाम सारे झंझावातों के बीच भी अपने आप को रोशनी की मीनार की तरह बनाए और बचाए रखना होगा ताकि जिदंगी की आपाधापी और तमाम तरह के तनावों के अंधकार में जीते हुए मनुष्य को जब रोशनी की तलाश हो तो उसे निराश न होना पड़े।

मुद्रित साहित्य की चर्चा करते हुए हमें इस सत्य को भी स्वीकार करना होगा कि साहित्य अपनी अभिव्यक्ति और अपने संरक्षण के लिए अलग-अलग माध्यमों में ढलता रहा है। श्रुत साहित्य से प्रारंभ हुई यह परंपरा भोजपत्रों से होती हुई कागज़ तक आई और फिर सिनेमा के पर्दे पर सेलुलाइड के माध्यम से अभिव्यक्त होती हुई अब ई-माध्यमों में तब्दील हो रही है। सैकड़ों व हजारों की संख्या में छपने वाली पुस्तकें अब इंटरनेट के माध्यम से लाखों व करोड़ों लोगों तक एक साथ पहुंचती हैं।

पुस्तकीय साहित्य की पाठकीयता और उपलब्धता भले ही सिमटी हो, लेकिन इंटरनेट के माध्यम से इसकी उपलब्धता को अत्यंत सहज और सुलभ बना दिया है। इसलिए पुस्तकीय साहित्य का भविष्य कहीं न कहीं इंटरनेट पर ज्यादा विस्तृत और ज्यादा सुरक्षित हो गया लगता है।

लेकिन माध्यमों के विकास और विविधताओं के बावजूद साहित्य का भविष्य अंततः उसमें अभिव्यक्त मनुष्य के सुख-दुख, हर्ष-विषाद और मनोभावों, चेष्टाओं, स्थितियों, जिजीविषा और उम्मीद के धारदार प्रस्तुतीकरण पर ही निर्भर करेगा। सतही और अंगभीर प्रस्तुतीकरण किसी भी विद्या को हास्यास्पद और अल्पजीवी बना डालता है। जिन्दगी का सच यदि साहित्य में उत्कृष्ट कलात्मकताव सघन संवेदना के साथ प्रस्तुत नहीं होगा तो उसका भविष्य किसी भी माध्यम में धुंधला ही होता चला जाएगा। कहना न होगा कि साहित्य साधना के स्तर पर पहुंचकर ही कालजयी बन पाता है। कालजयी साहित्य के भविष्य को कभी कोई खतरा नहीं रहा है। देखना सिर्फ यह है कि हम साहित्य सिर्फ लिख रहे हैं या साधना के स्तर पर उसे रच भी रहे हैं? लिखने और रचने के इस भेद में ही साहित्य का भविष्य भी अंतर्निहित है। हम इस भेद को जितना जान पाएंगे, साहित्य के भविष्य के प्रति उतना ही आश्वस्त हो पाएंगे।

पुस्तक समीक्षा

एक दृष्टिकोण

राम जन्म भूमि बाबरी मस्जिद विवाद

लेखक – रामशरण श्री वास्तव आई०ए०एस० (से.नि.)

रामजन्म-भूमि की विवादित समस्या के लिए लेखक श्री रामशरण श्रीवास्तव आई.ए.एस. (से.नि.) ने “एक दृष्टिकोण” नामक पुस्तक के माध्यम से एक ऐसा समाधान प्रस्तुत किया है जो न्यायोचित और व्यावहारिक भी है। लेखक का अपना ‘एक दृष्टिकोण’ है। उसकी अपनी सोच पूर्णरूपेण साक्ष्यों, तथ्यों और न्यायिक प्रक्रिया के आधार पर निश्चित हुई है।

फ़ैजाबाद में जिलाधिकारी के पद पर सेवा काल में रहते हुए लेखक ने रामजन्म भूमि से सम्बन्धित साक्ष्यों और खुदाई से प्राप्त राम-जन्म-भूमि मन्दिर को ध्वस्त किए गए अलंकृत स्तम्भ एवं अलंकृत वास्तुखण्डों का गहन अध्ययन कर स्पष्ट किया है कि इस विवादित भवन निर्माण के पूर्व निश्चित रूप से करोड़ों हिन्दुओं की आस्था के प्रतीक भगवान श्रीराम का यहीं भव्य राम-जन्म-भूमि मन्दिर था जिसे किसी प्रकार ध्वस्त करके वहां विवादित ढांचे का निर्माण कराया गया।

माननीय सर्वोच्च न्यायालय भारत सरकार ने दि. 24-10-1994 को सभी दृष्टि से आश्वस्त होते हुए अपना विचार रखा-“.....हमारी तोत्र आकांक्षा है कि यही समभाव की भावना सार्वजनिक रूप ले ले और इसके पूर्व कि न्यायालय इस विवाद को सुलझाये, साम्प्रदायिक भाई चारे की भावना से अयोध्या के विवाद को शान्तिपूर्ण ढंग से हल कर लिया जाये।”

विद्वान लेखक ने न केवल पुरातात्विक आधार पर राम-जन्म-भूमि मन्दिर का अध्ययन किया बल्कि अनेक उर्दू और अरबी के विद्वानों के ग्रन्थों से सिद्ध किया कि ‘मस्जिद-ए-जन्म स्थान’ राम-जन्म-भूमि के मन्दिर को तोड़कर बनाई गई है।

पुस्तक ‘एक दृष्टिकोण’ अपने आपमें राम-जन्म-भूमि-मन्दिर की पुरातनता को सिद्ध करने के लिए प्रयाप्त है। लेखक ने सरल, सहज और सरस भाषा में लिखकर जन-सामान्य को पुष्ट प्रमाण दिए हैं। पुस्तक पठनीय और संग्रहणीय है।

डिमाई साइज २०८ पृष्ठ, मोटे कागज पर, हार्ड बाउण्ड तथा

आकर्षक आवरण के साथ मूल्य ₹० २७०/- मात्र

प्रकाशक

राम शरण श्रीवास्तव आई.ए.एस. (से.नि.)

1325, वाई ब्लाक, किदवई नगर, कानपुर

फोन : 0512-2641970 मोबाईल : 9415050225

पुस्तक केन्द्रीय कार्यालय पीतमपुरा, दिल्ली में भी उपलब्ध है।

Sewa Samarpit

Muralidhar Devdas Amte

– Atam Dev

Muralidhar Devdas Amte, popularly known as Baba Amte (born: December 26, 1914) was the eldest son of a wealthy Brahmin land-owner. His parents affectionately gave him the name 'Baba', meaning little one. Muralidhar had an idyllic childhood. While a student, he had the luxury of a gun and a sports car.

During the college days he was attracted by Rabindranath Tagore's music and poetry. At the same time, he was fascinated Gandhi's relationship with God and his scientific attitude of life. The poetic simplicity of Maharashtra's fiery social reformer, Sane Guruji, drew him like a magnet.

Amte built up a lucrative practice as an advocate in Warora. He also looked after family's farm of 450 acres. But the money, prestige and comfort were not making Baba happy. Instead, he became restless. This surely could not be the purpose of life, he thought. At times, his legal practice forced him even to be dishonest. This bothered him still more.

During the Quit India movement, in 1942, he organized lawyers to take up the defence of the jailed leaders and was himself thrown into prison. Soon Baba lost all interest in the law practice. Perhaps, one way of ensuring a full life was to become one with the poor and oppressed.

Baba spotted Indu Ghuleshastri at a wedding. Baba noticed that amid the wedding festivities of her elder sister, Indu had quietly slipped away to help an old maid servant who was washing clothes. Baba and Indu were married in December 1946, and together they launched on an arduous joint adventure. On their wedding day Baba renounced his property and gave up his legal practice. In doing this he left behind his family, virtually forfeiting all claims on their support and his large inheritance.

the couple began by setting up a shram ashram near Warora. About the same time, Sane Guruji began a fast-unto-death at Pandharpur and succeeded in gaining temple entry for the Harijans. Sane Guruji's example gave a deeper meaning to compassion in Baba's life. It helped him to nurture the growing conviction that 'What is weak defeats what is strong, what is soft defeats things that are stiff.'

The turning point in his life came one rainy evening, as Baba headed home. A huddled figure lay on the roadside. At first it seemed like a bundle of rags. But then he noticed some movement. Baba looked closer and recoiled instantly. Lying before him was a man in the last stage of leprosy. The dying man had no fingers. Maggots crawled over his naked body. Horrified by this sight, terrified of infection, Baba ran home.

But he could not run away from the self-loathing, which began to hound him. How could he have left a lonely forsaken man to lie there in the rain? So he forced himself to return and feed the man. He also put up a bamboo shed to protect him against the rain. That man, Tulshiram, died in Baba's care and irrevocably changed young Amte's life.

Baba set out on the path that is now history. He began by reading intensively about leprosy and offering his services at the Warora leprosy clinic. Soon, he was running his own clinic. In 1949, he went to the Calcutta School of Tropical Medicine to learn more about leprosy. By the time Baba returned home, the discovery of diamino-diphenyl-sulphone had made leprosy curable. With this wonder drug in hand, Baba began treating leprosy patients in sixty villages around Warora. Soon there were eleven weekly clinics within a radius of about fifty kilometers from Warora, with a total of about 4,000 patients.

In 1951, the government gave Baba some barren land for his leprosy project. They called this place 'Anandvan', the Forest of Joy. Baba and the leprosy patients worked shoulder to shoulder. Gradually, the scale and facilities of Anandvan grew. Eventually they added at Anandvan a College of Agriculture, a primary school for blind children, a school for deaf and dumb children and an orphanage. These multi-dimensional efforts won Anandvan a string of national and international awards, which brought both fame and funds.

Baba had severe cervical spondylosis, which was causing a pro-

gressive degeneration of the spine. He underwent a major operation in London and later another in Bombay on his spine. These operations allowed Baba to live but left him with a permanent handicap. He would never be able to sit again. He could either lie down or stand, but only for limited periods.

Despite this physical degeneration, Baba's spirit fought back with renewed vigor. In 1973, barely a year after he had undergone surgery for his back problem, Baba moved to Hemalkasa, a place deep in the forests about 350 kilometers south of Nagpur. He liked being among the adivasis. Travelling from village to village he began to work for improving health among the Madia Gonds.

By now Baba had further fine-tuned his understanding of how 'development' was making the life of tribal communities more difficult. Two major hydel power projects were coming up in the area around Hemalkasa the Inchampalli dam on the Godavari River and the Bhopalpatnam dam on the Indravati River. Baba joined the effort to mobilize a popular opposition to the projects and eventually it led to the cancellation of these projects. This sangharsh drew Baba one step closer to his destined home on the banks of the Narmada.

By the end of 1989 Baba had decided to move to the banks of the Narmada to fight against both unjust displacement of local inhabitants and damage to the environment on account of the construction of the Sardar Sarovar dam. Baba was stuck between the two camps. He knew that confrontation was not the solution. And he despaired at his own inability to convince, to persuade, the 'other side' about the folly of the dam.

Baba's legacy has lived on through the tireless work of his two amazing sons and their wives, who in their own ways have contributed significantly to furthering Baba's vision. Dr. Vikas Amte runs Maharogi Sewa Samiti and coordinates operations between Anandvan and satellite projects; his wife Dr. Bharati Amte runs a hospital at Anandvan and his brother Dr. Prakash Amte and his wife Dr. Manda Amte run the school and hospital at Hemalkasa.

Due to his health, Baba returned from the Narmada valley to his home in Aanadvan but he continued to serve as a source of inspiration

to others in the anti-big dam movement, not only in the Narmada valley, but also around the world. In 2007, he was diagnosed with leukemia. Amte died in Anandvan on February 9, 2008. Respecting his wishes, his body was buried instead of being cremated.

Baba's steadfast support for the disadvantaged people and his commitment to social justice defined his work for more than five decades. He was bestowed with numerous national and international awards. Conferred the title Abhayasadhak for his fight. He was conferred with Padam Shree in 1971 and Padam Vibhushan in 1986. He was awarded with the Ramon Magsaysay award (1985), United Nations Human Rights Prize (1988), the Templeton Prize (1990), and many other humanitarian and environmental prizes. □

A LIFE WELL LIVED

Taking is easy: giving is difficult. It is man's nature to be selfish. Selflessness is a gift of God. There is no joy better than giving back to the community, what you have taken and much more. There is no ecstasy than seeing the tears of gratitude in the eyes of another human being. To develop selflessness, a simple philosophy has to be developed like doing ones duties and responsibilities and leaving the fruits of action to God.

A person's life is judged by how it touches the lives of others. It is what we leave behind and evidence that we have lived on this planet that is important than making money, keeping it in lockers, playing games for oneupmanship and leaving a bitter taste in others.

It is wonderful to have a dream, moving up life's ladder and turning visions into realities. If we study the life of great persons, the biggest accomplishments would be what they have contributed to the community. What is the point in crying over things that you have lost something that does not belong to you? Enjoy what you have now to the fullest.

What freedom means to me

- Gurmeet Kanwal

In a free country there is much clamour with little suffering; in a despotic state there is little complaint, with much grievance

What is freedom ? It is a difficult question to answer categorically. Does it mean absolute liberty to do as one pleases? Complete nonrestraint to pursue any fancy that strikes one? Is such a free existence possible at all for a human being ? Freedom is, indeed, a nebulous concept, laying itself open to several interpretations, even conflicting ones.

There are champions of freedom who vehemently oppose any form of social control. Thoreau at least allows the need of some government---"The best government is the least government"---but there are others who denounce any sort of organization at all. But given the imperfect nature of human beings, surely, such freedom would degenerate into anarchy and finally to the survival of the fittest in the sense of brute power? It would result in the tyranny of the weak by the strong; it would mean freedom for the strong and enslavement of the weak.

At the other extreme are those who are thoroughly suspicious of individual freedom. They have such a low opinion of human reason that they cannot allow an individual the right to choose and decide on his or her own. Any deviation from a rigid social average is seen as a threat to society. Social equilibrium is the end-all to which individual initiative must, perforce, be sacrificed. But such a society will soon lose its vibrant dynamism, become ponderous and static and finally collapse under the weight of its own rigidity. As did the Greek and Roman civilizations.

The extremes, thus, can harm society. But one may deduce that freedom is a social concept. If human beings lived as isolated entities, the meaning of freedom has no importance. It is because they live in groups, in societies, that the concept of individual freedom needs to be understood at all.

Freedom, indeed, can be a burden. Enjoyment of freedom requires

the use of one's brains, it calls for decision, the willingness and ability to choose between right and wrong, indeed to contemplate on what is right and wrong. The exercise of freedom and the capacity to perceive its perversions requires of a human being a very high degree of integrity and social consciousness. Erich Fromm in his *Fear of Freedom* correctly argues that with a low level of social consciousness, man has a tendency to misuse freedom by either oppressing his fellowmen or by running away from the exercise of freedom. The practice of freedom involves taking decisions with the full awareness of the responsibility it entails; it implies a readiness to accept the consequences of any such decision.

The conscious exercise of freedom is not easy. One meets with opposition from different sides at different levels and of different degrees. Pursuit of freedom in action requires courage of conviction and then the self confidence to face even social ostracism. Society does not like individual exercise of freedom. Even a hair style or dress somewhat different from that of the majority invites the raised eyebrows, sniggers or derisive comments. If one chooses to think differently from the herd, the consequences may be quite dangerous to such a thinker. Socrates, after all, was executed for choosing to think freely. Galileo was tortured for his freedom of thought. If one wants freedom, one must be ready to pay a price for it.

Yet, in each one of us, there is a hidden rebel. Even eccentricity is a form of defiance, a protest, an expression of resentment against conformity. It is this basic instinct in man that sublimates itself in the form of freedom. Each one of us is a nonconformist in some sense or the other and this shows the urge for freedom.

It is the courageous exercise of freedom that makes human beings question social evils and attempt to change things for the better. When one says that freedom should not harm society, it does not mean that society has to be accepted as it is with all its ills. As human consciousness evolves, as awareness and knowledge grows, and if social norms seem to have acquired an oppressive quality, the exercise of freedom to have acquired an oppressive quality, the exercise of freedom to change the system becomes imperative. Throughout history, social change takes place mainly because an individual first manifests the courage to question existent beliefs and practices, break free of them and create better alternatives. That is true freedom.

India: Phoenix and Elephant

- Prof. Darshan Singh Maini

India is both an elephant and a phoenix. Despite all the drawbacks like foreign occupations, wars, riots, partitions etc. it goes on majestically with its slow, heavy, ponderous gait. Like the mythical bird phoenix "the eternal" India rises again and again to take her place of pride in the world.

In my hours of meditation when I close my ears to the buzz and hum of things outside, I am often drawn to those books in which India appears in so many forms, colours and aspects as to baffle the imagination. I leave aside for the present, books of travel, history, mythology etc., and return to some of the Western writers such as Hermann Hesse, E. M. Forster, L.H.M. Myers, among many other illustrious thinkers and artists.

For how the Western eye of interest and fascination views this ancient land, and how romance and reality lose their essence and get telescoped are matters that I trust, suit the novelist or the fabulator's craft as a phoenix and an elephant simultaneously. I seek to explore India as a giant metaphor for the mysteries and ambiguities of life. In a manner of speaking, each country has, to use Disraeli's sub-title of his political novel, *sybil*, "two nations"-the rich and the poor, the powerful and the weak, and the division is as eternal as summer and winter, day and night. Thus, what I write below could be seen as many notes towards the definition of India. It's not a definitive statement for India is too complex and vast an idea to yield its secret except in fleeting glimpses.

The "elephant" India is an entity with a history stretching back to thousands of years. Despite foreign invasion and occupation, despite despoliation and degradation, despite wars and riots and partitions, it has, like that slow, heavy ponderous, yet beloved animal, carried on nonchalantly, majestically, trumpeting its existence from time to time.

This entity is palpable, visible, though it too evokes the idea of that phoenix India when the two metaphors merge, and both are subsumed in the basin of our flowing consciousness. And this India has evolved into an indestructible, metaphysical wholeness, and it gives us a vision of human greatness and of transcendence even amidst contradictions and confusions.

Separately, each India-"the phoenix" and "the elephant"-moves on its own axis, though the distance between the two (materiality and spirit) has been widening all along, and in the present-day Bharat that's India, has nearly made nonsense of the ideas, institutions and things that described its quiddity, its inner self, indeed, its soul. At this point of time, what we style as "the Eternal India" is not in the line of public vision, for the swift changes in the quality of leadership, tending more and more towards Machiavellianism, have rendered that India ineffective. All the vices and vanities, all the tyrannies built in a bureaucratically-run state, all kinds of terrorism-from the mindless communal and crusading type of the State terrorism armed with parliamentary and judicial powers-may be seen in action all across the country. divided in root and branch.

The chaos is not on the ground alone; its germs lie in the diseased collective mind of the warring communities. Politics has degenerated into politicking, and governance into a ground for greed and graft. Well, the wonder of it all is that India even now keeps walking like a somnambulist, lurching from crisis to crisis and yet pushing along by the sheer force and weight of history.

Why India to the common Westerner is still a sum of contradictions, mind-boggling delinquences is not difficult to understand.

The earlier visitors to India from abroad returned home to tell stories of mad elephants and snake-charmer, of mendicants and naked fakirs etc., and those images became fixed over a period of time. The India of pristine glory was the concern only of a handful of great philosophers and writers.

I remember how difficult it was for me to explain the essence of India to a graduate class at New York University when I was giving a course on the 20th century novel. India, even to such students, was some godforsaken piece of land at the end of the world, at best, a riddle

which was hopelessly insoluble. Whitman's great poem "Passage to India", did ring some bells in the American mind, but the country, as a whole, remained a tangled enigma. A wrapped, distorted image has come to stay, particularly in the remote mid-west states of the USA.

As I see things, the question of maddening contradictions is principally a matter of archaic residues in Indian consciousness, and their hold is tenacious and vicious. And those contradictions keep erupting in the unlikeliest manner in the unlikeliest places. To put it a little differently, several levels of consciousness-prehistoric, feudal, colonial, modern-exist at once in certain sections of our society.

It's this phenomenological mosaic which often intrigues and troubles the Western eye. For us who live in that element, there is hardly any surprise. In fact, we hardly ever notice such daily delinquencies of thought, conduct and behaviour, having been conditioned from birth by the weight of uncertainties.

Such strange sights as the presence of computers and cobras in the same place, or the parking of a Mercedes and a dhobi's donkey alongside, or a nuclear scientist with three vedic sandal-paste marks on his broad Brahmanical forehead wouldn't affect your attention, but such sights hit the foreign visitor straightaway, and block his vision. He has a vague idea of India's poetry also, but the abominable sights often drive him to distraction. Ah, but the caravan goes on, and the absurd India, the ponderous "elephant" of our fancy carries everything before it-from animals, poverty, disease, flood and famine, and scores of other ills. That's how it is, and that's how it will be.

The point is that though we are a modern democratic state at a certain level, we are still not modern in spirit and temper. Our modernity is largely sectorial and mechanical.

It's not integral, intuitive and original. that's why V.S. Naipaul was compelled to call us "mimic men" with our "second-rateness." He too missed the meaning of much of our reality beneath the surface, but was dead on target about our fake modernity.

No wonder, archaic elements-our sadhus and tantriks and high priests and scores of such freaks in our political parties-continue to

flourish.

The Indian situation, it appears, is peculiarly hospitable to sedimented and fossilised feelings and ideas. Perhaps no other book brings out so forcefully and entertainingly this aspect of the Indian reality as G.V. Desani's classic, 'All about H. Hatterr', a novel written decades ago with something of a Joycean gusto. I quote:

Improbable, you say,

No fellows.

All impossibles are probables in India.

So where do we stand now, and what measures, if any, we may adopt to keep the "elephant" on course, and the "phoenix" in action? We continue to agonise over our country's present and future in the media, and in our seminars and fora.

Is India E. M. Forster's "mystery" added to "muddle", or Hesse's land of one's quest and moksha? Perhaps both are right, each in his own way. □

ASIAN VIEW OF MAN

— S. Radhakrishnan

All the living faiths of mankind had their origin in Asia: Confucianism and Taoism in China, Hinduism, Buddhism, Jainism and Sikhism in India; Zoroastrianism in Iran, Judaism and Christianity in Palestine; and Islam in Arabia. The religions adopted by the Western people are all derived from Asia. Indian culture has influenced a large part of Asia's thought and art and affected other parts of the world also.

People of different races, languages and cultures met on the soil of India, and, though we read of occasional clashes, they have settled down as members of a common civilisation whose primary characteristics are faith in an unseen reality, of which all life is a manifestation, the primacy of spiritual experience, a rigid adherence to intellectual norms and an anxiety for harmonising apparent opposites.

Don't Worry About Worry

- Dr. P. V. Vaidyanathan

Unfortunately, for us, worry is not an innocuous thing, and it can lead to a whole set of diseases, both of the body and of the mind. Since it's a futile affair, it's up to us to use our intelligence to realise this fact, and to stop worrying.

We all agree on the thing in common-'we should not worry'. But we also do one thing in common-worry. Worry or stress is nothing new to man, and every generation of mankind must have worried about the issues that confronted them, at the time. Children worry, youngsters worry, middle-aged worry, and even elders worry. If worry or anxiety was harmless, then we could leave it as an innocuous thing. But it is not so and it leads to a whole set of diseases, both of the body and of the mind.

In a recent research conducted abroad, scientists studied the 65+ age group for patterns of worry. They categorised them into 5 groups, from the simplest to the most complex-those who never worry, those who worry sometimes, those with severe worry, those with uncontrollable worry, and those who had Generalized Anxiety Disorder (GAD). They also discovered that those in the severe worry and above categories, landed up having many physical and mental problems, notably depression. It was suggested that interventions at this state should make things better for these senior citizens, and should prevent depression and melancholy, and improve the quality of life.

WHY DO WE WORRY?

Most of us, when in a frame of mind to use our logical and analytical thinking processes, would readily agree that all the worry that we undertake, is useless and futile. We know it serves no purpose, and that it makes us sad, irritable, harassed and depressed. We readily tell others not to worry. But when it comes to ourselves, we are rarely able to

implement this very advice. Most of our worry is because we do not know the future. Irrespective of the fact that there are a thousand astrologers, soothsayers, and palm readers in this country, the plain and simple fact of life is that no one knows the future, for sure. And we never will, for this is how God or Nature intended man to be. God gave us the power to live in the present, and to remember our past, but he never gave us the power to know the future, for reasons best known only to Him.

Since the future is filled with a thousand different possibilities, and with a million different permutations and combinations of events and situations, we tend to imagine all that is likely to occur, and worry. Our mind is such that it continuously keeps playing the 'What if?' situation. What if inflation rises to such a level that I can't make both ends meet? What if I die? What will happen to me after my death? What if my spouse or my children die, before I do? These, and many such endless questions, constantly plague our minds, leaving us with no peace or happiness.

EXIT THE CHAKRAVYUH

So, how to get out of this worry circle, this chakravayuh, which seems to be going round and round? The only way to cut down or reduce worries, whatever they be about, is to try and focus our minds and energies on what we have, vis a vis what we don't have, and to focus our concentrations on the present moment. In the present moment, there is no time and place for worry, since it is happening right now. Worry is always about something we did (the past) or something nasty that might happen (the future). It is never about the present, because we exist in the present, and we can take necessary actions about any problems that are occurring now. It is only the anticipation of problems that may result from our past actions, at some point in the future, which results in worry.

If you are faced with any danger, be it a thief, an oncoming train, or wild animal, you have to react, when faced with a situation, the time is so less and so narrow that there is really no time to worry. If you worry at this point, you will die. You can do only one thing-either worry or act. And instinctively, all of us choose to act. It is only when we think about how we would tackle a thief or a tiger in the future that worry

sets in. Worries, by and far, are nothing but thoughts, products of our fertile imaginations. And it has been statistically proved that almost 90% of our worries and anxieties never materialise. In fact, it has been seen that what eventually happens is something that we have never even thought of.

As an example, a couple of years ago, on July 26, 2008, it rained very heavily in Mumbai, converting the entire city into a huge water body, cutting off communications, separating members of many families, including children from one other, and causing severe devastation, and a lot of deaths and financial losses. Not a single human being on this earth, or in this city could have ever imagined that such a situation would come about. All the people affected by the flood on that day must surely have worried about a hundred odd things in the morning, but none of the worries must have been about the unprecedented flooding that took place. None of those who died would have ever thought this was going to be their last day on this earth. The same was true when the Tsunami hit many parts of Asia, including South India. Or when the 9/11 incidents happened in New York. Or when there were serial bomb blasts in Mumbai.

The point of this discussion is to bring to light the fact that almost all our worry is useless and futile, and most of what we are worried about is never going to come true, and what will eventually happen, will often come as a surprise or a shock. Hence it is up to us to use our intelligence, to realise this fact, and to stop worrying. Every time a worry crops up in your mind, it might be well worth telling ourselves that this worry is nothing but a figment of our imagination, and it is very unlikely to come true, and it is just our mind playing dirty tricks on us. Repeatedly doing this, and seeing that our worries actually never materialise, is one way of slowly getting rid of this habit. We can always temporarily get rid of worry by diverting our minds elsewhere, either by engaging in some activity, hobby, social work, watching a movie etc, but unless the basic process of worry is understood and remedied, they are sure to return, after the diversion is over. As someone said: "What you worry about is less likely to happen than what you didn't worry about!"



A Negative Mind is your Worst Enemy

- Shrikant G Chittar

While a positive mind is our best friend and healer, a negative mind (according to Maharshi Patanjali) is our worst enemy and destroyer of peace, health and happiness.

In the very first of his Yoga Sutras, Maharshi defines 'Yoga' as controlling the modifications of mind. He further elaborates it as five such modifications, both painful (negative) and pleasant (positive). The negative mind causes unhappiness in many ways by creating severe health problems as well as mental agonies, like worries, tensions, and fears. Let us find out ways and means to avoid it through Yoga Sadhana, which eradicates the root causes of human unhappiness (kleshas). The first and foremost is to eradicate the sickness and diseases in the body. So let us analyse the damages caused in the body when your mind is negative.

The manifestations of the main features of a negative mind are as follows:

Anger: This is very common and frequent among both young and old, male and female, rich and poor. Even healthy and saintly persons are not exceptions; they get angry when they come across causes of injustice and misdeeds.

Hatred: A strong dislike for another person or community of a nation gives rise to hatred for others which may lead to enmity and even to World Wars resulting in tremendous loss of life and property.

Worries: Any impending danger or possibility of loss or failure gives rise to worries.

Disappointments: When high expectations are not fulfilled, it causes disappointment.

Similarly, fears and various types of unhappiness are all manifest-

tations of a negative mind. In fact, all the six Shandripus ultimately give rise to negative trends. These are:

1. Kama (desires) - unfulfilled desires give rise to disappointment.
2. Krodha-Anger as described above.
3. Lobha (greed)-An old adage says, 'there are enough resources for the needs of all human beings, but not enough for the greed of one person'. Unlimited greed ultimately results in disappointment when it is not fulfilled.
4. Moha (temptations)-gives rise to unlimited desires.
5. Mada (arrogance)-this will create enemies.
6. Matsara (jealousy).

Each one of these is associated with some disease. For example, jealousy is associated with peptic ulcers causing unbearable stomach pain. Perhaps, for the same reason, in many Indian languages jealousy is termed as 'stomach pain'.

Whenever the mind is negative, there are three types of damaging changes in the body.

- The cortisone level in the blood increases, polluting the blood and reducing its power to resist diseases.
- Arteries through which pure blood goes to heart shrink, thus narrowing the passage. This increases the pressure in the blood, and the muscles of your heart weaken slowly and it stops working eventually, causing sudden death.
- Your breathing becomes fast and irregular. This creates stress on the lungs and disturbs its working. As the heart and lungs work in unison, disturbance in the lungs affects the working of your heart, giving rise to problems necessitating a bypass heart surgery.

In the second chapter of Yoga Sutras, Maharshi Patanjali mentions the root-cause of 'negative mind' (kleshas) in the beginning itself.

Wrong knowledge: This is the first and foremost of all the kleshas that gives rise to others. He defines it thus-to consider impure as pure,

temporary as permanent, unhappiness as happiness, and non-Atman as Atman. According to V Rajgopal Bhat, Dharma Pracharak of Shri Chitrapur Math, it denies reality, which is God's wish. Thus mental resistance to reality on which we have no control is the main cause of kleshas or the root-cause of negative mind and human unhappiness.

Ego or arrogance: This will spoil friendly relations and cause enmity, quarrels and even wars, causing unhappiness to many.

Attachment: This should not be confused with Love which is the most powerful positive emotion. Attachment seeks pleasure from the object of attachment and will cause unhappiness when that object is no longer available. For example, a child likes chocolate, it is attached to it, and when that chocolate is snatched away, the child weeps. Thus this attachment finally results in unhappiness.

Aversion/Dislike: In the subtlest form, it is dislike for a particular thing or person-for example, dislike for bittergourd for its bitter taste. When the aversion is strong, it creates hatred, which may result in enmity and may further result in quarrels and even war, causing loss of life and property.

Attachment to life or fear of death: This is both raga and dwesha-attachment to life and aversion of death. A beautiful example of total absence of attachment can be seen in our freedom struggle when all of India's-young and old-bravely faced the British bullets on Gandhiji's clarion call. However, many battles are lost when soldiers retreat from the battlefield for fear of death, and bring disgrace and unhappiness to their nation.

What is the remedy for a 'negative mind'? For removing darkness, we have to bring in light. There are several asanas and pranayamas which generate positive bhavas. But the main klesha caused by your mental resistance to reality can be reversed by accepting the reality. For this purpose, there are certain exercises-a combination of Nispandabhav, Shavasana and abdominal breathing (Pranayam No. IV)-which gave me miraculous results for physical problems like back pain and chronic knee-joint pain.



Yoga in Relation to Other Exercises

- K. Janakiraman

All exercises give flexibility, stamina and high level of energy. What is unique about yoga is that it puts the body in positions of relaxation for extended periods of time with prescribed breathing technique which relieves tension and stress and boosts immune system. It promotes catabolism and slows down respiration and metabolism.

All exercises emphasize fitness and health conferring the following benefits:

1. Streamlined figure
2. Muscle building and muscle tone
3. Reducing obesity and cellulite
4. Proper secretion & drainage
5. High energy level and stamina
6. Flexibility

It is probably yoga that ensures freedom from common disorders of the physique.

Let us look at some oft-repeated lingo of this culture :

Fitness: Well adapted and in suitable condition

Health: Soundness of body and mind

Aerobics: Conditioning of the cardio-pulmonary systems to increase the intake of oxygen.

Cardio-vascular: Involving the heart and the blood vessels.

Calisthenics: Derived from 'Callos' meaning gracefulness and strength.

Isometrics & Isotonic: Muscular contractions of equal measure and tension that harden the area.

Anabolism: The process by which simple substances are synthesized into complex living tissues.

Catabolism: Change of complex molecules into simple molecules that aid growth.

Metabolism: Chemical and physical processes involved in the maintenance of life.

Yoga versus Exercise

Although they are complimentary, yoga is unique in that the body is placed in position that cultivates awareness, relaxation and concentration.

Exercise speeds up breath. It promotes catabolism and metabolism.

Yoga arrests catabolism and slows down respiration and metabolism. Electro-chemical activity in the nervous system is altered to advantage. Energy blocks are removed and muscles and joints are loosened.

Yoga speeds up blood circulation and stimulates digestive and excretory functions.

Yoga has an edge over other forms of exercise because of the following reasons:

(a) There is an extension or expansion of the life force called Prana through breathing oriented asanas.

(b) Placing the body in prescribed positions with a new breathing technique (diaphragmatic breathing) for extended periods of time automatically helps liquidation of cellulite and brings to order the respiratory, digestive cardio-vascular, endocrine and nervous systems. Yoga balances all these systems for therapeutic relief and redress.

(c) Yoga gives physical, mental and emotional balance most required in the management of stress and tension.

(d) Finally there is no oxygen debt and all activity is based on the dictum that nothing which is uncomfortable should be attempted. 'Sthiram, sukham avam asanam' (stability, comfort and position) is the philosophy behind yoga.

Nourishment is the most important coordinator of health. The other

is elimination of waste materials that are produced in the tissues as a result of biochemical activity.

Tissues cannot get proper nourishment if they remain inactive (a state in which waste materials are not removed efficiently and there is reduction in the blood circulation). If this situation continues for long, the tissues lose their efficiency.

If the tissue is exercised regularly, it causes the muscles concerned to contract and stretch, the capillaries are pressed and the tissue gets increased supply of blood, oxygen and nutrients.

In vigorous workouts like boxing, wrestling, weight training, gymnastics etc. the muscles are repeatedly contracted rapidly. Such rapid contraction of the muscles are called 'phasic' or isotonic (equal tone).

Yoga, on the other hand, does not involve phasic contraction of the muscles. Yoga's contraction of muscles can be called 'static' for want of a better term. There are no repeated movements in maintaining or stretching the muscles. Yoga gives importance to the exercise of skeletal and deep-seated smooth muscles of the body. It surpasses all other forms of exercise.

The muscles of the abdominal wall, the pelvis, the trunk the back, the neck and the chest are stretched in the various yoga exercises. Toning the internal organs is for corrective and restorative purposes, it would be ideal if one practices a few specialized exercises in addition to yoga for building skeletal muscles. Aerobics of short duration not exceeding 20 minutes can become part of the daily regimen or it can be added as a workout for 3 or 4 days in the week.

Intrathoracic and intraabdominal pressures in the practice of yoga ensure blood circulation and massage of the internal organs.

The scope of the yoga techniques is not confined to the body alone. The effect is felt in one's mind, perceptions, lifestyle, attitudes and emotions. The addition of 'mudras and bhandas' and the cleansing procedures involved in shatkarma and shankaprakshalana give added benefits like detoxification, proper drainage and secretion.

Yoga therapy targets the following: Stress and depression, Stomach related disorders, Backache, arthritis, spondilitis and gout, Asthma diabetes.

Last but not least one should mention obesity and cellulite which are liquidated by specific types of breathing (abdominal & diaphragmatic) and placing the body in prescribed positions for extended lengths of time several times during the day.

The science of medicine has recognized the therapeutic value of yoga in treating disorders like hypertension, indigestion, gas, constipation and acidity, asthma, diabetes and backache.

Many yoga therapists have doctors as patients and students. Since, neither allopathy, naturopathy, homeopathy and ayurveda can become a panacea for all ills, yoga can become an alternative therapy if a specific individual's physique becomes more responsive to its practice.

When pain and anguish flatten us and when we feel suffocated we naturally explore other alternatives.

It would be ideal if there is more interaction between yoga therapists and the doctors of different schools. An exchange of patients results in effective remedy for the patients.

Here are some maladies that respond more to yoga than any other form of treatment:

Bleeding piles, hypertension and stress, All stomach disorders, asthma and diabetes, spinal disorders, thyroid and hormonal imbalance.

What is relevant and material in maintaining health and fitness is activity instead of inertia, whatever the form of exercise you adopt. Flexibility, stamina and a high energy level are your objectives in exercising. All exercises give those benefits. The uniqueness of yoga is that it puts the body in positions of relaxation for extended periods of time with prescribed breathing technique which relieves tension and stress and boosts the immune system. □

A MAN MAY AS WELL EXPECT TO GROW STRONGER BY ALWAYS EATING AS WISER BY ALWAYS READING.

CIVILISATION IS A METHOD OF LIVING, AN ATTITUDE OF EQUAL RESPECT FOR ALL.

-Jane Addams

Necessity of Religion

- Ravindra Kuman

(former V.C. of Meerut University)

I vividly remember that day of August 1998 when Mouthong asked me, "What is the necessity of religion?" That is, "Can't we live without religion?"

Although Mouthong's pertinent question urged me to give a prompt reply there only, I thought it would be inappropriate at the moment to do so. That's why I told her, "I will answer your question on my forthcoming visit to the campus. Please wait until then." And it was after 10 months during my next visit to the campus of the PSU, Pattani, Thailand, when I got an opportunity to answer the question of Mouthong in brief by citing an example. I also tried to clarify those points which according to me were at the root of the question of Mouthong.

First of all, the question that Mouthong asked regarding 'necessity of religion' was in fact related to religious-community. Religion and religious-community, both, differ in their meaning, subject, scope etc. It is possible for you and me to be members of different religious-communities and at the same time be adherents of the same religion. Therefore, it is imperative for all of us, students of religion and philosophy, to get well acquainted with the meaning, subject, scope etc. of religion and religious-community.

Secondly, Mouthong was repulsed by certain inhuman acts that

One can terminate one's affiliation with a religious-community; and can even change one's religious-community. All over the world, there are many, who are not a part of any religious-community. This is their personal matter. Contrary to this, one is always attached to religion. It is almost impossible to separate oneself from religion.

were perpetrated under the cover of religious-community. This repulsion created anguish. I believe that's why she had asked the question.

One should understand the establishment of a religious-community, the reality of its goals and the circumstances also. By doing so, one can become aware of the real situation and the anguish caused by it.

And, thirdly, one can terminate one's affiliation with a religious-community; and can even change one's religious-community. All over the world, there are many, who are not a part of any religious-community. This is their personal matter. Contrary to this, one is always attached to religion. It is almost impossible to separate oneself from religion. Therefore, your question is unreal. Convert it into a real one by amending. "What is the necessity of religion?" To "What is the necessity of religious-community?"

I would like to give an authentic example. It occurred about 62 years back. A country was divided on the basis of two religious-communities. As a result, there was a large-scale migration of population from one part to another and along with that, there was looting and innumerable incidents of inhuman atrocities. Violence was the worst that included mass massacre of the innocents.

Amidst this chain of events, in a village, two families with a total of eleven members could not migrate with people of their own community in time.

Around midnight they were surrounded by a group of fanatics of the opposite community who locked the houses of both families from outside and started preparing to burn down their houses. According to their plan, many went home to fetch kerosene and other materials. Only four or five persons were left to guard the families.

The helpless people locked inside the houses, awaited their end with bated breath. Suddenly the men guarding the house threw open the doors, probably to know what the people inside were doing.

Now there were eleven people inside and only four or five outside, those too were not physically sturdy. Thus making use of the opportunity, the family members pushed aside the guards and escaped. Those who had gone to fetch kerosene etc. had returned. The eleven family members now fled for their lives with the fanatics hot in pursuit.

There was a church about half a kilometer from the village. Sister Elizabeth, a model of selfless service was peacefully reading, 'The Sermon on the Mount', and meditating on each word that she read.

Suddenly, eleven people rushed in through the already open door of the church. The Sister was quick to realize why those people had arrived. In order to save their lives, the Sister applied the message of Faith in God. She stood up and closed the main door from inside. She took the eleven members towards the back of the church and sealed them in a chamber. After that, she again continued studying the Holy Bible.

The murderous crowd following the families reached the church. They knocked at the door. The Sister opened the door. They shouted:

"Where are they?"

"Who?" The Sister enquired nonchalantly.

"The same people who came running this way."

"...But nobody came here. I was reading the Bible all by myself..."

"Do you swear by the Bible?" This Sister was well aware of the admonition given by Lord Jesus in his 'Sermon' regarding taking 'Oath' and without delay, she touched the Bible to her forehead.

The crowd went back. Eleven lives were saved. The eleven people who were saved were not Christians and they did not belong to the Sister's religious-community. Moreover, the fanatics who were intent on killing and looting them were not Christians either.

By keeping complete faith in God and touching the Bible to her forehead, Sister Elizabeth saved not one but eleven lives that did not belong to her religious-community.

What do we call this ? Certainly this was an exercise of carrying out her religious duty.

In the definition of religion, 'Goodness' is to be adopted. At that time, it was 'good' for Sister Elizabeth to save the lives of eleven humans. This was her religion and she carried it out properly and beautifully. Religion is above the religious-community. Its scope is extensive and involves welfare of all. Contrary to this, religious-community is limited and is below religion.

Even if you are not affiliated with any religious-community, but if you claim to be a human being you cannot disassociate yourself from religion. Religion is the essential condition for both humanity and exist-

ence.

The reason is clear. If goodness, which is the definition of religion, is not complete; then what will be the consequences? You can well understand. Therefore, we cannot rule out the necessity of religion under any circumstance. The only requirement is that you understand it properly.

No religious community, in its original form, obstructs the path of religion. It is even helpful in carrying out one's religious duties.

Sister Elizabeth was a good Christian. She adopted the teachings and the principal values of Christian religious-community. That is why she had risen to the level where and when it was required; she was able to carry out her duties. Had she not been a good Christian, she probably would have failed in carrying out her religious duties. But the sister did not fail and she did the 'good' work of saving lives.

It is true that under the veil of religious-communities, many inhuman acts were perpetrated. Mankind was thrown into the flames of violence. There are not one but many instances to prove this. Even then, would there be any religious-community that would really encourage its adherents to commit inhuman acts or violence?

I cannot believe so. Why ? Because I am well aware of the aim behind the establishment of religious-communities and the circumstances involved. I know that needs in particular periods of time, gave birth to religious-communities for the welfare of specific human communities. This was thought over by one or more than one great personage, saint or reincarnate and keeping the best possible values, under the existing circumstances, chiefly in mind, urged the people to model their day-to-day activities in accordance with that.

One should not be distracted by one or two incidents that were inhuman and committed under the cover of religious-community.

Do not foster hatred for religious-community either. Do not let anguish develop inside you. As mentioned, religious-communities are not devoid of a person behind their establishment.

How good it would be if we become true adherents of our religious-community, that is, adopt its teachings fully and then proceed in the field of religion and make ourselves adaptable there also. This is what is really needed. □

Modern Science and Internal Spirituality

- Dalai Lama

It is the basic right of all beings to achieve a happy, successful life. Today's material world is a product of science and technology-both of which bring comfort to humanity. Advancement in science and technology is helping people remedy their problems. Which is why we need to be aware of both. But, can science and technology eliminate pain at the mental level? Unfortunately, modern machines can manufacture everything but a happy mind. And treatment on the physical level can't change your mental disposition.

While science gets us physical comforts, spirituality brings us mental calm. With the ever-growing impact of science on our lives, religion and spirituality have a greater role to play in reminding us of our humanity. There is no contradiction between the two. Each gives us values, insights into the other.

The potential antidote to your stress lies in the mind itself. One must be compassionate to avoid tension. Spirituality deals with the mind. By nature, compassion is the source of inner strength and happiness. It is an extremely narrow-minded and self-centred person who is always worried about something or the other. If you place your worries within a larger perspective, you will realise just how trivial they are.

This is the 21st century-- if there is major progress, there are also major problems. In such a situation, awareness is important; warmth is important. It doesn't matter whether you believe in God or a next life, we need to create a balance between science and spirituality. If the two remain distant, we're headed for trouble. On the other hand, only radical, materialistic thoughts point towards all matter and no mind. If we don't consider the importance of our inner feelings, we will be like machines and lose many precious feelings. We must keep our emotions-they bring colour to life. Training of the mind reduces negative emotions and promotes positive feelings. Which means we have the capacity to reduce negative emotions ourselves.

What is spirituality, anyway? In ancient times, communities remained isolated from others, be it Indians, Chinese, Arabs-they all developed certain philosophies, thoughts and concepts that made them believe they were the best in every field. In today's global world, realities, have changed. We cannot afford to propagate our own beliefs or

Spirituality deals with the mind. By nature, compassion is the source of inner strength and happiness. It is an extremely narrow-minded and self-centred person who is always worried about something or the other. If you place your worries within a larger perspective, you will realise just how trivial they are.

run down the other's faiths. That will only make things complicated.

There are two levels of spirituality-the first deals with basic human emotions. Even medical scientists have begun to realise and accept that the mental element-karma-is very important for health, happiness and success. At another level, spirituality is your belief in religion. I believe the concept of God was created to increase love, compassion, tolerance and understanding of humanity. Ancient Indians thought of the theory of karma to strengthen basic human values.

To believe or not to believe in these theories is totally the choice of the individual.

Once you find your reality through investigation, you must accept it. If one finds a reality that is different from what is written in the scriptures, we should have the liberty to change them. I'm a Buddhist. If I refuse to budge from my faith, I should believe the world's still flat. If I stay with religion and away from science, I will be living in an unreal world. There are two extremes-denigration and exaggeration. It is up to the individual to find the levels of reality between these two.

By invoking fundamental ethical principles, I am not advocating a fusion of religious ethics and scientific inquiry. Rather, I am speaking of what I call 'secular ethics' that embrace the key ethical principles, such as compassion and tolerance-principles that transcend the barriers between religious believers and non-believers, and followers of various religions. □

(Excerpted from the Dalai Lama's address at a conference on Science and Spirituality in Modern India).

New Poverty Economics

- Prof. B. M. Hegde

money only is a good servant but a bad master

Francis Bacon

The big business with the money and employment that it generates is the talk of the town. Everyone who does well in business is the darling of the powers that be. In the monetary economy, it is the big business that runs the world. Money today has become our God and making money our religion.

But in this scenario it is the ethics that is usually the casualty. Money runs governments and politics. Banks, stock markets, governmental agencies that mentor these institutions and all other fringe activities are the ones that catch the attention of the media as well as the imagination of the younger generation.

The Forbes list of millionaires, the list of big spenders, and the list of the glitterati occupy the main pages of the daily newspapers as also special papers devoted to business. Money is the oxygen that runs society today.

There runs a parallel economy of what is called black money which, at times, looks more powerful than the white money economy.

Time was when mankind enjoyed the sustenance economy of egalitarian distribution, unlike in the present monetary economy where a small minority holds the lion's share of the cake leaving a thin bit for the large majority to survive. This gulf is widening by the day as the total wealth keeps going up all over the world. Business means profit. Big profit, in turn, has to disregard ethics to a great extent. Big money always has some kind of crime behind it.

When once money comes in, respectability follows in society and no one bothers to find out the origin or the means that went into getting that money. In short, money also buys respectability. In this milieu, corruption is the natural by-product. This has become a universal phenomenon. Corruption is the shortcut to making it big in a short time. Naturally, then corruption can never be divorced from the other methods of

making money. In this business of making money what matters is the end and not the means to the end.

Does money bring happiness with it? This million dollar question does not have a single simple answer. In the beginning, money would bring security and some degree of happiness, but with more money, happiness become a thing of the past. The who is who of the rich and the powerful shows that they all were unhappy to the extent of almost committing suicide before they decided to part with substantial amounts of their wealth to society.

It is in giving that one gets happiness. The stories of John D Rockefeller, Alfred Nobel, and even Bill Gates Jr. are all similar if one went deep into them. They become happy only after giving and not getting. It is in giving that one gets happiness. It is greed that creeps in when one makes it big to destroy humanism. History is replete with examples of such incidents.

There seems to be an awakening of the human conscience in the field of big business after a number of scandals came up recently to show big business in a very bad light. Students seem to be interested in business ethics and universities are keen to have special courses in business ethics. Professional ethicists and teachers teaching business ethics are in great demand.

This was the theme of the recent annual conference of business ethicists held in Atlanta. The participants thought that the boom will go on for sometime now.

Books written on business ethics are going up by the day and the present estimate is that over 500 are already in the market. The predictions of the future should go wrong and they did in this case as well. When Lehman Brothers collapsed followed by many other major players in the field, the world stood up to take notice of what I have written above. Most of the Western governments are in disarray thanks to their putting their eggs together in the monetary system pegged to the US Model. It will now take a lot of effort and time to recover from this mess.

In recent times the large pharmaceutical bosses have committed greater fraud resulting in adverse drug reactions being a significant cause of death and disability.

The next tsunami will soon hit the pharma lobby that has been plundering the hapless common man with their disease mongering techniques and their sales gimmicks. Imaginary diseases and the epidemics are created by them to sell drugs and make money. The medical profession is completely under their control.

The big pharma lobby, which today is thrice as big and powerful as the oil lobby in Washington, has been at it for a long time almost from the time the first sulphur molecule was extracted from naphtha to make money out of the surplus oil.

Some of the recent revelations in this area have made many of their skeletons tumble out of their cupboards. Reviewing this beautiful book *Overdosed America* by John Abramson wherein this practising doctor in the US has revealed the horrible stories of how drug companies create illnesses to sell their drugs, how they even hoodwink the American licensing body, the FDA, how they control medical education, how they "doctor" research data to suit their convenience and, how they brainwash the medical profession to dance to their tunes. Eric Schlosser, wrote thus: "Some of the nation's worst drug dealers are not peddling on street corners; they are occupying corporate suites instead."

It is time we went back to the time honored business ethics practised in India from time immemorial. About a decade ago, the BBC in London had put together a debate on ethics in business and other areas.

It was not surprising why they chose Tulsidas's Rama Charitamaanasam as the pivotal point for discussion. BBC claimed that this epic is the only one that depicts human ethics of the highest order where one could see the manliness of God and Godliness of man at the same time. While Rama agrees to go for 14 years exile in the forests showing the manliness of God, Bharata, his younger brother, sees that Rama does not lose his legal right to the throne even after 14 years by ruling only as his power of attorney, displaying thereby godliness of man!

Big business should forget Bernard Mandeville who wrote that in corporate world there is no place for charity as the sole motto should be to make profit irrespective of the consequences.

Now that there is awareness in the world for a new business humanism in the aftermath of the recent economic tsunami, we better get the pharma lobby to come clean and empty their cupboards of all

the old skeletons atoning for their past sins before the next more powerful tsunami hits them. As there is new awareness among the students for the need for ethics of the highest order in business, business schools should wake up from their deep slumber. Hope with this change of heart big business will be able to build a healthy future for mankind with an egalitarian society where the lowest worker gets a reasonable salary and not one thousandth of the salary of the CEO!

Let all the people on the Forbes list take note that happiness is "rejoicing in giving" as proclaimed by the Isopanishad thus : *thena thyakthena bhoojnithaha*. Until the last person gets three meals a day, there will be no peace on earth.



OUR GREEN CULTURE

Vedic wisdom expounded on the need for conservation of natural gifts. Perhaps rituals related to conservation were instituted to ensure that these treasures were not desecrated. We need to understand the significance of such conservation rituals and respect them in context. Green living was a way of acknowledging the divine nature of forests. Ancients considered it important to respect the interconnected nature of life.

In tribal cultures, before axing a tree, people would ask permission of the tree, promising to plant five trees as compensation. Today, these rituals are being abandoned as irrelevant.

Trees symbolise spirit of alive. They sustain ecological balance when standing tall and protect and serve as wood after death. We need to give something back in the same altruistic spirit.

इस अंक में -----

अपनी बात		1
Editor's Reflections		4
Holy Wisdom		7
'भारतीय संस्कृति'-एक अवलोकन	किशोर अग्रवाल	8
वर्तमान भारत की सांस्कृतिक चुनौतियां	डॉ. वेदप्रताप वैदिक	12
भारतीय संस्कृति में कर्म-सिद्धान्त	डॉ. शशिप्रभा कुमार	16
भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्नता और संजीवनी शक्ति	डॉ. महेशचन्द्र भारतीय	22
भारतीय समाज में 'अनेकता में एकता'	रमेश प्रसून	26
कार्य संस्कृति	डॉ. अजित गुप्ता	30
भारतीय संस्कृति में नारी- अस्मिता और नारी संघर्ष	आशारानी व्होरा	35
आधुनिक जीवन में 'पूर्णयोग'	किरीट जोशी	44
देश की दशा एवं दिशा बतलाएंगी २०११ की जनगणना	आशीष शर्मा	48
अपाहित जिन्दगी का दर्द	राजेन्द्र मोहन भटनागर	54
मुद्रित साहित्य का भविष्य	कमलेश भट्ट कमल	58

एक दृष्टिकोण	पुस्तक समीक्षा	62
Muralidhar Devdas Amte	Atam Dev	63
What freedom means to me	Gurmeet Kanwal	67
India : Phoenix and Elephant	Prof. Darshan Singh	69
Don't Worry About Worry	Dr. P.V. Vaidyanathan	73
A Negative Mind is your worst enemy	Shrikant G. Chittar	76
Yoga in Relation to other Exercises	K. Janakiraman	79
Necessity of Religion	Ravindra Kuman	83
Modern Science and Internal Spirituality	Dalai Lama	87
New Poverty Economics	Prof. B.M. Hegde	89